UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186663

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 321.04 T 75 E Accession No. H 3354

Author टायनबी, आर्नल्ड

Title एक विश्व और भारत 1961

This book should be returned on or before the date last marked below.

नेशनल बुक ट्रस्ट पुस्तक

एक विश्व और भारत

आजाद स्मारक भाषण-माला १९६०

आर्नल्ड टॉयनबी

अनुवादक
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार

आषाढ़ १८८३ (जुलाई १९६१)

Published by arrangement with
Indian Council for Cultural Relations, New Delhi

मूल्य : ७५ नये पैसे

ONE WORLD AND INDIA
(*Hindi*)

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, दिल्ली-६
द्वारा प्रकाशित तथा भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित ।

भूमिका

आज़ाद स्मारक व्याख्यानों की द्वितीय माला में बोलने के लिये प्रोफेसर आर्नल्ड टॉयनबी को निमंत्रण देते समय मैं उपस्थित श्रोताओं को मौलाना अबुलकलाम आज़ाद द्वारा भारतीय सार्वजनिक जीवन को दी गई अनेक देनों में से केवल एक का स्मरण दिलाना चाहता हूँ। गत वर्ष मैंने कहा था कि वे मूलतः एक विद्याव्यसनी व्यक्ति थे, जो परिस्थितियों के वशीभूत होकर राजनीति में खिंच आये थे। एक सच्चे विद्याव्यसनी की दो आवश्यक विशेषताएं होती हैं—सत्य के प्रति निष्ठा और ऐहिक सफलता के प्रति उदासीनता। यही वे गुण थे जिन्हें मौलाना आज़ाद अपने दीर्घ सार्वजनिक जीवन में स्वयं में और अपने सहयोगियों में लाने की कोशिश करते रहे।

मौलाना आज़ाद का विश्वास था कि ज्ञान के क्षेत्र में जो सचाई और ईमानदारी अपेक्षित है, वही मानवीय शासन के क्षेत्र में भी अपेक्षित है। इसीलिये वे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विचार और कार्य में ईमानदारी की मांग करने में किसी प्रकार का समझौता नहीं करते थे। समाज तभी जीवित रह सकता है,जब कि वह न्याय और सचाई के सिद्धान्तों पर आधारित हो। जब मनुष्य इन सिद्धान्तों के अनुरूप आचरण करते हैं, तभी उन्हें पता चलता है कि एक-दूसरे से क्या आशा की जा सकती है और तभी वे मानवमात्र के सामान्य हित के लिए मिलकर कार्य कर सकते हैं। जब भी कोई व्यक्ति अपने लिए विशेषाधिकार चाहता है, तभी वह सामाजिक जीवन के ताने-बाने पर दबाव डालता है। जब बहुत-से व्यक्ति ऐसा करते हैं तब सामाजिक सुदृढ़ता का आधार जाता रहता है। अतीत काल में भारत ने यदि हानि उठाई तो इसीलिये कि बहुधा व्यक्ति ने स्वयं को अपवाद मानकर छूट चाही। मौलाना आज़ाद ने बार-बार यह कहा कि सत्य के कठोर पथ से विचलित होना राष्ट्र के भविष्य के लिए संकटपूर्ण है।

इसलिए मौलाना आज़ाद सार्वजनिक और निजी जीवन में आचरण के उच्चतम स्तर को बनाये रखने में बड़े कठोर थे। किन्तु इससे भूल-चूक करने वाले व्यक्ति के प्रति उनकी सहानुभूति और करुणा में कोई बाधा नहीं पड़ती थी। मानव-व्यापारों के विद्यार्थी होने के नाते वे यह जानते थे कि हम सबसे भूल-चूक होना सम्भव है और हमें मानवीय कमज़ोरी की निन्दा करने में बहुत कठोर नहीं होना चाहिए।

इसलिए वह किसी की निन्दा करने से बचते थे। व्यक्ति के प्रति उनकी इस करुणा ने सार्वजनिक सदाचार के परिपालन के स्तर को बनाए रखने की उनकी भावना में कोई बाधा नहीं डाली। भूल करने वाले व्यक्ति के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए भी वह यह चाहते थे कि प्रत्येक भूल को उसके गुण-दोष का ध्यान रखकर परखा जाय और तब न्यायानुसार उसके विषय में कोई निर्णय किया जाय। उन्होंने करुणा को मनुष्य और उसके व्यापारों के प्रति किये गये अपने सामाजिक निर्णय में कभी बाधक न होने दिया।

मौलाना आज़ाद की विद्याभिरुचि ज्ञान के सम्पूर्ण विश्व को समेट लेती थी। वह एक साथ इतिहासज्ञ भी थे और दार्शनिक भी, साहित्यिक भी थे और अध्यात्मवादी भी। सब प्रकार के अध्ययन को आत्मसात करने के लिए वह गम्भीर वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से काम लेते थे और उन्होंने अधिकारी विद्वानों और परम्पराओं से अभिभूत होने से इन्कार कर दिया था। जन्मजात बुद्धिवादी होने के कारण उन्होंने हर विषय को तर्क की कसौटी पर कसकर देखा था। वह जानते थे कि मानवीय ज्ञान मूलतः एक है, और इस प्रकार विभिन्न विज्ञान मानव-मस्तिष्क द्वारा यथार्थ के विभिन्न पहलुओं का पृथक्-पृथक् ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न मात्र हैं। यह व्यापक उदारता उनके इस विश्वास से प्रकट है कि ज्ञान का विभाजन जाति, प्रदेश या युग के आधार पर नहीं किया जा सकता। सब कालों के सब मनुष्यों के प्रयत्नों का ही यह फल है कि मानवीय ज्ञान का भव्य भवन निर्मित हुआ है और होता रहेगा।

'प्राच्य और पाश्चात्य दर्शन का इतिहास,' जो उनकी प्रेरणा का मूर्त्त रूप था, मौलाना आज़ाद की व्यापक उदारता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। दूसरा उदाहरण आई० सी० सी० आर० या सांस्कृतिक सम्बन्धों के लिए स्थापित उस भारतीय परिषद की स्थापना में देखा जा सकता है, जिसका ध्येय विश्व के समस्त देशों से भारत के सांस्कृतिक सम्पर्क को विस्तृत और सुदृढ़ करना है। इसलिए यह संगत और उचित है कि यह परिषद मानव-कल्याण और विकास पर प्रकाश डालने वाली व्याख्यान-माला प्रारम्भ करके अपने संस्थापक-अध्यक्ष की स्मृति को गौरवान्वित करे और प्रति वर्ष उसी आदर्श के प्रति समर्पित किसी विद्वान को आमंत्रित करे।

हम अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने आज़ाद स्मारक व्याख्यान-माला का उद्घाटन भाषण दिया। कदाचित वह ही मौलाना आज़ाद के हृदय के सबसे अधिक निकट रहे। कदाचित मौलाना आज़ाद की आशंकाओं, आशाओं और आकांक्षाओं के प्रति किसी दूसरे को इतनी गहरी सहानुभूति भी

नहीं रही । पंडित नेहरू ने अपने भाषण का विषय 'भारत : आज और कल' चुना और उसमें अपने मस्तिष्क की आन्तरिक झाँकी दी तथा हमारे समक्ष भारत का वह भव्य रूप प्रस्तुत किया जिसका कि स्वप्न मौलाना आज़ाद ने भी देखा था।

आज हमने आज़ाद स्मारक व्याख्यानों की दूसरी माला के लिए पाश्चात्य जगत के प्रमुख विद्वान प्रोफेसर आर्नल्ड टॉयनबी को प्राप्त किया है । प्रोफेसर टॉयनबी इतने विख्यात इतिहासज्ञ हैं कि संसार के किसी भी देश के श्रोताओं को उनका परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए मैं उनकी विद्वत्ता के विषय में कुछ नहीं कहूँगा, परन्तु उस एक बात पर अवश्य बल देना चाहूँगा, जिसमें वह मौलाना आज़ाद के, जिनके सम्मान में ये व्याख्यान आरम्भ हुए हैं और श्री जवाहरलाल नेहरू के, जिन्होंने प्रथम आज़ाद स्मारक व्याख्यान दिये हैं; समान हैं। कदाचित इन महानुभावों को उस विश्व राज्य के नागरिक कहा जा सकता है, जो अभी स्थापित नहीं हुआ है।

प्रोफेसर टॉयनबी ने समस्त संसार की सभ्यता के उत्थान-पतन को अपने विशेष अध्ययन का क्षेत्र बनाया है। इससे उन्होंने स्वयं यह सीखा और दूसरों को भी सिखाया है कि इतिहास के प्रारम्भ से मनुष्य ने जिन परिस्थितियों का सामना किया है, उनमें असीम विविधता होते हुए भी मानवीय भावना की मौलिक एकता विद्यमान है । प्रोफेसर टॉयनबी के अध्ययन से हमारा यह सहजात विश्वास पुनः दृढ़ होता है कि मनुष्य का इतिहास वस्तुतः भौतिक जगत पर मानव-मस्तिष्क के बढ़ते हुए आधिपत्य की कहानी है । मनुष्य में देवत्व की एक ऐसी चिनगारी है जिसने उसे अत्यन्त भयानक ढंग की चुनौतियों का सामना करने और उन पर विजयी होने की क्षमता प्रदान की है । व्यक्ति मिटे हैं और राष्ट्र भी अपने पथ पर चलते हुए चूर-चूर हुए हैं पर मनुष्य आगे बढ़ता गया है और आज उस स्थिति में पहुँच गया है, जिसमें वह अपने भाग्य का निर्णयात्मक युद्ध छेड़ने को प्रस्तुत है।

प्रोफेसर टॉयनबी के ज्ञान की गहराई और विस्तार ने अपने पाठकों को एक साथ आश्चर्य चकित और हर्षित किया है। मानवीय मूल्य की दृष्टि से जो बात और भी अधिक महत्वपूर्ण है, वह यह है कि वह श्रेष्ठतर जीवन के लिए किए गए मनुष्य के प्रयत्नों के प्रति गहरी सहानुभूति रखते हैं । सभ्यता की ओर मानव के प्रयाण की दो विशेषताएं रही हैं—एक तो भेदक दीवारों का ढह जाना और दूसरी, सहानुभूतियों का विस्तार होना । आज मनुष्य उस स्थिति में पहुँच गया

है, जिसमें मानव-एकता के मार्ग की भौतिक बाधाओं पर लगभग विजय प्राप्त कर ली गई है, और जिसमें उसे आगे एक ऐसी भावात्मक छलाँग लगानी है जो अन्तिम मनोवैज्ञानिक बाधा पर भी विजयी हो जाएगी। प्रोफेसर टॉयनबी जिस सचाई और लगन से विश्व की भावात्मक और बौद्धिक एकता की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं, उसमें एक द्रष्टा की-सी वाणी का स्पर्श मिलता है।

हमें बड़ी प्रसन्नता है कि प्रोफेसर टॉयनबी ने अपने व्याख्यानों का विषय 'विश्व-एकता को भारत की देन' रखा है। भारत कुछ दृष्टियों से सब जातियों और देशों के मनुष्यों की विचारधाराओं का संगम-स्थल है। ब्रिटिश साम्राज्य से भारत का लम्बा सम्पर्क एक राजनैतिक और आर्थिक दुर्भाग्य था, परन्तु उसने प्राच्य और पाश्चात्य विचारों को इतनी गहराई से घुला-मिला दिया कि संसार में कदाचित उसका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। पश्चिम के एक शिक्षित मनुष्य में सामान्यतः केवल यूनानी और यहूदी परम्पराओं के प्रति ही कृतज्ञता की चेतना रहती है। कुछ लोगों को मध्य युगों में अरब मस्तिष्क की देन का भी भान हो सकता है। लेकिन भारत और पूर्वी देशों के प्रति यूरोप कितना कृतज्ञ है, इसकी लोगों को बहुत ही कम जानकारी है। अन्य पूर्वी देशों के अधिकांश मनुष्यों का बौद्धिक दृष्टिकोण भी कृतज्ञता की इन्हीं सीमाओं से घिरा है। इसके विपरीत आज भारत का औसत शिक्षित मनुष्य अपने जीवन पर पड़े पाश्चात्य राजनैतिक एवं वैज्ञानिक विचारधाराओं के प्रभाव से पूर्णतः परिचित है। विश्व के अन्य पूर्वी देशों की अपेक्षा कदाचित भारत के विद्वानों में पाश्चात्य मूल्यों की चेतना अधिक व्याप्त है। भारत ने अपने यहां के धर्मों, संस्कृतियों, भाषाओं और मनुष्यों की नाना प्रकार की विविधताओं में एक प्रकार का समन्वय स्थापित करने में भी सफलता प्राप्त की है। इस क्षेत्र में उसकी यह सफलता उस सफलता का पूर्वाभास है, जिसे मानव-जाति विश्व के धर्मों, संस्कृतियों, भाषाओं और मनुष्यों की और भी बड़ी विविधताओं के समन्वय से प्राप्त कर सकती है।

आज़ाद स्मारक व्याख्यानों की द्वितीय माला में कल के विश्व के नागरिक प्रोफेसर आर्नल्ड टॉयनबी को आज के विश्व के नागरिकों के समक्ष बोलने के लिए आमंत्रित करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है।

हुमायूं कबीर

फरवरी २१, १९६०

विषय-सूची

भूमिका	... ...	३
विश्व-एकता की आवश्यकता	...	९
विश्व-एकता—आन्दोलन की प्रगति	...	२७
विश्व-एकता को भारत की देन	...	४४

विश्व-एकता की [illegible]

आपने मुझे द्वितीय आज़ाद स्मारक व्याख्यानदाता के रूप में आमंत्रित करके अत्यधिक सम्मान दिया है। श्री जवाहरलाल नेहरू का अनुसरण करने से बढ़कर सम्मान की बात और क्या हो सकती है। मैं यह भी बता दूं कि प्रधान मंत्री ने अपने उद्घाटन भाषण द्वारा जो स्तर निर्धारित कर दिया है, उससे बहुत अधिक नीचे गिरने से बचने के बौद्धिक प्रयास से बढ़कर अग्नि-परीक्षा भी और कुछ नहीं हो सकती।

इतना सम्मान देने के साथ-साथ आपने मुझे परम सुख का अधिकारी भी बनाया है क्योंकि मैंने सन् १९५६ ई० में मौलाना आज़ाद द्वारा स्वागत-सत्कार का आनन्द प्राप्त किया था और मैं अपने साथ उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप ले गया था। कुछ विभूतियाँ ऐसी होती हैं जो थोड़ी देर की भेंट में ही अपना प्रभाव डाल देती हैं। मौलाना आज़ाद निश्चय ही ऐसी विभूतियों में से एक थे। किन्तु जब मैं श्री हुमायूँ कबीर के निमन्त्रण-पत्र को पढ़ रहा था, तब मेरी प्रबलतम भावना न तो सुखानुभूति की थी—यद्यपि वह भी तीव्र थी—और न इस बात की कि मुझे अभूतपूर्व सम्मान दिया जा रहा है। जिस बात से मैं सर्वाधिक प्रभावित हुआ और जिसने मेरे हृदय को भी छुआ, वह यह थी कि आपने एक अंग्रेज़ को इस महान् कार्य के लिए आमंत्रित किया।

अपने देश की सरकार द्वारा किए गए कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति का कुछ न कुछ उत्तरदायित्व अवश्य रहता है। एक व्यक्ति अपनी सरकार के द्वारा किए जाने वाले कार्यों का विरोध करते रहने पर भी किसी सीमा तक उनके प्रति उत्तरदायी रहता ही है। देखिये न, मैं एक अंग्रेज़, आपके निमंत्रण पर, आपके द्वितीय मौलाना आज़ाद व्याख्यानदाता के रूप में भारतीय श्रोताओं के बीच बोल रहा हूँ। और मैं एक ऐसे देश का नागरिक हूँ, जिसके शासकों ने आपके उस देशवासी को जेल में डाल दिया था, जिसकी स्मृति में इस व्याख्यान-माला की स्थापना हुई है। वही बात उन्होंने आपके उस दूसरे देशवासी के साथ भी की थी, जिसने कि गत वर्ष उद्घाटन भाषण दिया था। इसलिए श्री हुमायूँ कबीर का निमंत्रण पाकर जो पहली बात मेरे ध्यान में आई, वह थी, "यह केवल भारत में ही सम्भव है।" निश्चय ही भारत में ऐसा होता आया है और मेरे साथ भी हुआ। इस बात ने मेरे अन्तर्मन को छू दिया।

भारत और भारतीय लोगों के सम्बन्ध में मैं जो कुछ जानता हूँ उसके आधार पर मुझे कहना पड़ता है कि आपके द्वारा जो निमन्त्रण भेजा गया वह भारत की अनुपम विशेषता है। इस कार्य द्वारा मुझे अपने विषय का संकेत भी मिल गया। श्री हुमायूँ कबीर ने अपने पत्र में विषय का चुनाव पूर्णतया मेरे ऊपर छोड़ने की उदारता दिखाई थी। मैंने शीघ्र यह विषय भेजने का निश्चय किया, जिसे आपने स्वीकार किया है और जो अब मेरे तीन दिन के व्याख्यानों का आधार होने जा रहा है। मेरा विश्वास है कि आपके निमंत्रण ने मुझमें जो भावना जगाई, वह उन महान् प्रयत्नों के लिए भारत की एक विशिष्ट देन है, जिनमें आज समग्र विश्व के सद्भावना-सम्पन्न नर-नारी लगे हुए हैं।

जैसा कि आप अनुभव करेंगे, मैं उस आन्दोलन के बारे में बोल रहा हूँ, जो मानव-इतिहास में पहली बार एक परिवार के रूप में साथ-साथ रहने के लिए चलाया जा रहा है और जिसके कारण आज समस्त विश्व-मानस उद्वेलित है। यह अभियान जितना महत्वाकांक्षा से युक्त है उतना अपेक्षित भी है। इसे सफल बनाने के लिए नाना प्रकार के सहयोगों— विभिन्न क्षेत्रों से विभिन्न प्रकार के सहयोगों—में से पश्चिम का सहयोग क्या हो सकता है? पश्चिम को भावी विश्व-जाति का वैज्ञानिक ढाँचा खड़ा करना होगा, जिसके बिना इतने विशाल और अभूतपूर्व रूप में एक जाति की स्थापना और रक्षा असम्भव हो जायगी। वैज्ञानिक ढाँचे की यह देन पश्चिमी वैज्ञानिक पद्धति और दृष्टिकोण का एक फल है। दूसरे शब्दों में यह पश्चिम की उस उदार भावना का एक परिणाम है, जो वहाँ तीन सौ वर्ष पूर्व अंकुरित हुई थी। भारत की विशिष्ट देन, जैसा कि मेरा विचार है, उसकी विशाल-हृदयता और उन्मुक्त मानसिकता होगी। विश्व को एक करने के लिए पश्चिम की विशिष्ट देन ने मानवता को जिस नये युग में ला खड़ा किया है, उसमें यह उसकी अमूल्य भेंट सिद्ध होगी।

जैसा कि हम काव्यात्मक ढंग से कहते हैं, इतिहास में पहली बार पश्चिम के पराक्रम की अभिव्यक्ति जहाँ एक ओर 'दूरी का विनाश' करने में हुई है, वहाँ दूसरी ओर उसने मानव को ऐसे अस्त्रों से भी सुसज्जित कर दिया है, जो स्वयं मानव-जाति को ही समाप्त करने की क्षमता रखते है। इन भयानक नये अस्त्रों को हाथों में लिये हुए हम, जो अब तक मानव जाति के बिखरे हुए टुकड़े हैं, अपने को एक दूसरे का विनाश करने की दृष्टि से अत्यन्त सन्निकट पाते हैं। यद्यपि हम सब मानवता के नाते एक सूत्र में आबद्ध हैं, तथापि आज भी हम एक-दूसरे के लिए अजनबी-से हैं, और अपने को वर्तमान विषम स्थिति में फँसा हुआ पाते हैं। पूर्व-

प्रस्तर युग के प्रारम्भ से लेकर अपने पूर्वजों द्वारा कीटाणु को छोड़ समस्त मानवेतर प्राणियों को विजित करने के समय तक मानव-जाति ऐसे भयानक संकट में कभी नहीं रही। पर आज जब कि मनुष्य ने कीटाणु पर भी विजय प्राप्त कर ली है, कोई मानवेतर जीवित प्राणी—न शेर और चीते और न विषाक्त कीटाणु ही—मनुष्य के लिए उतना भयावह नहीं रह गया है, जितना स्वयं मनुष्य अपने लिए हो गया है। मनुष्य ने कीटाणु पर तो विजय प्राप्त कर ली है, पर स्वयं पर नहीं। साथ ही उसने अपने को ऐसे अस्त्रों से सुसज्जित कर लिया है जिनकी तुलना में कीटाणु और शेर-चीते भी निरापद जँचते हैं। ऐसी विषम भय-संकुल परिस्थिति में मेल की भावना मानव-जाति की तात्कालिक आवश्यकता है और मेरा विश्वास है कि जब भावी पीढ़ियाँ अतीत की ओर दृष्टिपात करेंगी, तब उन्हें पता चलेगा कि मानव-जाति के लिए यह भारत की एक विशिष्ट देन रही है।

मैंने प्रसंगवश पश्चिम और उसकी सम्भावित देन की चर्चा की है। मुख्य विषय पर आने से पूर्व मैं पश्चिम के बारे में आनुषंगिक रूप से एक बात और कहना चाहता हूँ। मैंने आधुनिक पश्चिमी उदारतावाद का उल्लेख किया है। मेरी सम्मति में यह एक ऐसी देन है, जिस पर पश्चिम गर्व कर सकता है। इसके अलावा उसे कुछ अच्छे कार्यों का श्रेय भी है। उदाहरणार्थ इसने अन्ततोगत्वा मेरे देशवासियों को भारत में अपना शासन छोड़ने और भारत का प्रबन्ध भारतीय जनता के उन चुने हुए प्रतिनिधियों को सौंपने की प्रेरणा दी, जिनको उनके पूर्वजों ने पहले जेल में डाल रखा था। वैसे मैं यह मानता हूँ कि हमारे दोनों देशों के बीच के सम्बन्धों के उस दुःखद अध्याय का सुखद अन्त एक ओर पश्चिमी उदारतावाद और दूसरी ओर भारतीय स्वतंत्रता की द्वेषहीनता की भावना का फल था। यह द्वेषहीनता उस विशेष पीढ़ी में महात्मा गांधी द्वारा पूर्ण रूप में व्यक्त हुई थी। फिर भी मैं पश्चिमी उदारतावाद के इस कार्य पर गर्व करता हूँ। हमारी उदार भावना गांधीवादी भावना से मिलती-जुलती थी। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से आज तक आपने जो महत्तम राजनैतिक निर्णय किए हैं, उनके द्वारा आपने स्वयं पश्चिमी उदारतावाद के प्रशंसक होने का परिचय दिया है। आपने स्व-शासन की लोकतांत्रिक संसदीय वैधानिक पश्चिमी प्रणाली को ही अपने लिए चुना है।

निश्चय ही यह पश्चिमी उदारतावाद की विशिष्ट राजनैतिक अभिव्यक्ति है। किन्तु पश्चिमी लोगों को इस सत्य का भी सामना अवश्य करना पड़ेगा कि उदारतावाद जीवन का एकमात्र दर्शन कभी नहीं रहा। पश्चिमी उदारतावाद का जन्म सत्रहवीं शताब्दी में हिंसा और घृणा की उस भावना

के विरुद्ध नैतिक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था, जो क्रूरतापूर्ण पश्चिमी गृह-युद्धों —कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट धर्म-युद्धों—के समय पश्चिम में व्याप्त थी। स्वयं पश्चिम में भी उदारतावाद अपने जन्म से लेकर आज तक बिना चुनौतियों के नहीं रहा। मेरी उम्र के पश्चिम के लोगों ने दूसरे पश्चिमी गृह-युद्धों के भयानक दौर को देखा है। वे ऐसे गृह-युद्ध हैं, जिनमें से प्रत्येक का प्रारम्भ यूरोप में हुआ और जिनमें से प्रत्येक ने विनाशक विश्व-युद्ध का रूप धारण किया। उन दोनों विश्व-युद्धों में उदारता-विरोधी पश्चिमी हाथों ने पश्चिमी उदारतावाद का प्रायः ग़ला ही घोंट डाला था। इस प्रकार पश्चिम दुमुँहा है, और उसके दोनों मुँह उसकी आत्मा के भीतर चलने वाले दो असंगत दृष्टिकोणों और मूल्यों के मध्य के संघर्ष की अभिव्यक्ति हैं। यह एक सत्य है, जो पश्चिम के उदारतावादी लोगों को तिलमिला देता है। हमें इस सत्य का सामना करना कठिन प्रतीत होता है। परन्तु मैं अनुभव करता हूँ कि पश्चिम के अतिरिक्त मानवता के एक बड़े भाग के लिए भी यह स्पष्ट सत्य है। यहूदियों के लिए पश्चिम के ये दोनों असंगत चेहरे चिरकाल से ज्ञात रहे हैं और हाल ही में वे एशिया और अफ्रीका के लोगों को भी ज्ञात हो गये हैं। पश्चिम के इतिहास के उस अध्याय के प्रकाश में, जिसे आपने देखा है और अपने समय में जिसमें मैं रहा हूँ, यह स्पष्ट है कि पश्चिमी उदारतावाद को चुपचाप आँख मूँद कर स्वीकार नहीं किया जा सकता। कठिनाई से प्राप्त स्वतन्त्रता की भाँति जो उसका कष्ट साध्य ध्येय है उसका मूल्य अनवरत जागरूक रहना है।

अब मैं फिर अपने मुख्य विषय पर आता हूँ और सबसे पहली बात जो आपसे कहना चाहता हूँ, वह है विश्व एकता की आवश्यकता।

जिस कारण आज हम एकता की इतनी तीव्र आवश्यकता अनुभव करते हैं, वह सनसनीपूर्ण भी है और साधारण भी। इसे 'एक विश्व या शून्य' के सूत्र के रूप में संक्षेप में रखा गया है। विश्व का राजनैतिक दृष्टि से जाग्रत प्रत्येक नर-नारी आज इस बात से अवगत है कि यदि परमाणु-युग में हमने युद्धों को नहीं मिटाया तो युद्ध हमें मिटा देंगे। उक्त घिसी-पिटी रूढ़ि की पुनरावृत्ति लज्जा-जनक प्रतीत होती है, फिर भी जब तक युद्ध की परम्परा जीवित है और मनुष्य इसमें लिप्त रहता है, तब तक हमें इस पर पुनर्विचार करने को बाध्य होना ही पड़ेगा।

युद्ध-सम्बन्धी हमारा वर्तमान संकट कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे कि मानव-इतिहास अनभिज्ञ हो। यहाँ दास-प्रथा जैसी अनेक दूसरी सामाजिक बुराइयाँ रही हैं, जिनको मिटाने में मानव-जाति को सहस्रों वर्ष का समय लगाना पड़ा। कारण, वे घातक सिद्ध न होने के कारण अब तक मानव-जीवन की

गहराई में घुसी हुई थीं । निष्क्रियता मानव प्रकृति को स्वयं घातक बुराइयों के प्रति—चाहे वे कितनी ही भयंकर क्यों न हों—आत्म-समर्पण करने को प्रेरित करती है । उन बुराइयों के प्रति आत्म-समर्पण को हम यह समझते हुए क्षम्य मानते रहे हैं कि वे जन्मजात हैं और मानव प्रयत्नों द्वारा उनका निराकरण असम्भव है । किन्तु, जैसा कि हम जानते हैं, मानव के कार्य-कलाप कभी स्थिति-शील नहीं होते । कुछ विशेष प्रथाएँ निरन्तर प्रयोग और अभ्यास से सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में स्थायित्व ग्रहण करती दिखाई दे सकती हैं, परन्तु सदैव—जल्दी या देर से—भूमि के अन्दर की कोई हलचल प्रसुप्त ज्वालामुखी को विस्फोटित करती रहती है । जब कभी ऐसा होता है तब मनुष्य-जाति विलम्ब हो जाने के कारण, समय के बहाव के विरुद्ध, अपने को उस प्रयत्न में संलग्न करने के लिए विवश पाती है जो आज तक दुराग्रहपूर्वक असम्भव माना जाता रहा था । उस तथाकथित सहजात बुराई को निर्मूल करने और मिटाने के लिए हम अपने को विवश अनुभव करते हैं। जब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम इस बुराई को मिटाने या इस बुराई द्वारा अपने को मिटाने देने में से किस को चुनें, तो हम अनुभव करते हैं कि हम इसे असाध्य समझकर चिरकाल तक बैठे नहीं रह सकते। 'इसका उपचार असम्भव है', इस पूर्वाग्रह द्वारा अपने को पंगु न बनाकर हमें इसके उपचार का प्रयत्न करना पड़ता है। जहाँ तक युद्ध का सम्बन्ध है, हम आज अपने को इसी स्थिति में पाते हैं ।

इस प्रकार की स्थिति में अपने को फँसा लेना मानव-जाति की चिरन्तन भूल है । यह मूर्खता के साथ-साथ असभ्यता भी है । इसके अतिरिक्त यह मानव-प्रकृति के लिये अनुपयुक्त भी है। मानवता का यह तकाजा है कि हम अपनी अतीतोन्मुख दृष्टि को दूरदर्शिता में परिणत करते रहें । युद्ध ने अपना पहला जन-संहार ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व किया था । उस सहस्राब्दी में इसने हमारी एक प्राचीनतम सभ्यता—वर्तमान इराक की सुमेरी और अक्कदी सभ्यता—का नाश कर दिया था, फिर भी हमने अगले चार सहस्र वर्षों में युद्ध-संस्था को जीवित रहने दिया । वह भी उस दशा में जब कि वैज्ञानिक प्रगति निरन्तर परमाणु-अस्त्र के आविष्कार की ओर बढ़ रही थी । हमें चार सहस्र वर्ष से चेतावनी दी जाती रही है, फिर भी हमने एक के बाद दूसरे अवसर को खोया है । इस प्रकार अपनी वर्तमान दुर्गति के लिए हम स्वयं ही दोषी हैं ।

मानवीय कार्य-कलाप के क्षेत्र में भविष्यवाणी करना खतरे से खाली नहीं । इसमें अपने को जोखिम उठानी पड़ती है । किन्तु इससे बढ़कर घातक एक

वस्तु और है और वह है भविष्य की ओर से आँखें मूँद लेना। जीने के लिए हमें आगे के जीवन के सम्बन्ध में अनुमान करना पड़ता है। युद्ध की पुरानी संस्था के भविष्य के विषय में मेरा अनुमान—भले ही वह नगण्य हो—यह है कि हम उसे मिटाने में सफल होने जा रहे हैं। यह दास-प्रथा को मिटाने की अपेक्षा कठिन कार्य नहीं है। युद्ध की भाँति दास-प्रथा भी पुरानी और गहराई तक गई हुई बुराई थी। फिर भी कुछ समय पूर्व हम दास-प्रथा को मिटाने में सफलता प्राप्त कर चुके हैं। भूतकाल में मानव-जाति ने अन्तिम घड़ी में अनेक बार अपने को गिरने से बचाया है। किसी पर्वत के खड्ड के किनारे खड़े होकर नाचना पागलपन है, परन्तु सिरे पर पहुँच कर झट से रुक जाना बुद्धिमत्ता की खुली जीत है।

युद्ध समाप्त करने से और कुछ नहीं तो कम-से-कम प्रारम्भिक विश्व-सरकार की स्थापना का सूत्रपात तो होगा ही। प्रथम-विश्व सरकार जिसकी नियुक्ति हमारे लिए आवश्यक होगी—और जिसे वास्तव में प्रभावशाली ढंग से शक्ति-सम्पन्न करना होगा—एक केन्द्रीय सत्ता होगी, जो परमाणु शक्ति के उत्पादन और प्रयोग पर नियन्त्रण करेगी। कल्पना कीजिए कि हमने इतना कर लिया, तो फिर क्या उसे यहीं तक छोड़ देंगे? निश्चय ही नहीं। हम मानव-प्राणी कभी अपनी विजय से निश्चिन्त होकर न बैठेंगे। हम ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि एक समस्या का हल दूसरी को जन्म देता है। यदि युद्ध-समाप्ति का ध्येय पूर्ण हो गया, तो हमारे समक्ष तत्काल जन संख्या की समस्या आ खड़ी होगी।

वस्तुतः यह कोई नई समस्या नहीं है। यह युद्ध और दास-प्रथा की समस्या से कहीं अधिक पुरानी है। ये समस्याएँ मानव सभ्यता के साथ-साथ चलती रहती हैं। जब तक मानव-जाति का संगठन सभ्यता के स्तर तक नहीं पहुँचा था, तब तक युद्ध और दास-प्रथा इन दोनों में से किसी समस्या का भी अस्तित्व न था। इसके विपरीत जनसंख्या की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी कि स्वयं मानव-जाति। सच तो यह है कि वह स्वयं जीवन जितनी ही पुरानी है। इसमें जो नई बात पैदा हुई है, वह इतनी ही है कि अब यह मानव-जाति की अपनी जिम्मेदारी हो गई है और इसलिए अब वह बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करती है।

कुछ समय पहले तक मानव-जाति के पास वह शक्ति नहीं थी जिससे वह मानवीय विचारों और आदर्शों के अनुसार पृथ्वी की जनसंख्या का नियमन कर सके। हम मानव-प्राणी विश्व में उत्पन्न होने वाले अपने प्रत्येक मानव साथी को निरवच्छिन्न महत्त्व प्रदान करते हैं। हमारी दृष्टि में प्रत्येक नर या नारी एक व्यक्ति है और हमारे लिए मानव-जाति के जीवित रहने का महत्त्व या उद्देश्य

यही है कि जिसे हमने इस महत्त्व का पात्र समझा है, उसे व्यक्तिगत रूप से अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त हो। मानव-निर्मित मूल्यांकन के मान-दण्ड के अनुसार व्यक्ति एक अनन्त मूल्यवान आत्मा है। वह ऐसा जीव नहीं है, जिसे मर-खप जाने दिया जा सके। किन्तु प्रकृति ने जीवों की विभिन्न उप-जातियों को इस प्रकार बनाया है कि एक बड़ी संख्या में उनका बलिदान होता है। जिस पद्धति से प्रकृति खरगोश, हेरिंग तथा कीड़ों की संख्या का नियमन करती है, उसी से उसने कुछ समय पहले तक पृथ्वी की जनसंख्या का नियमन भी किया है, और हम मानव-प्राणी उसे टुकुर-टुकुर देखते रहे हैं। जब तक मनुष्य प्रकृति को उसके अपने उपाय को काम में लाने की छूट देता रहेगा तब तक उसकी यही एक मात्र पद्धति रहेगी और यह पद्धति अमानवीय हद तक अपव्ययात्मक और कठोर है। प्रकृति अपनी प्राणि-जातियों के असंख्य जीवों को उनकी निश्चित जीवन-अवधि के पूर्ण होने के पूर्व नष्ट कर देती है, परन्तु साथ ही दूसरी तरफ उसी प्रकार के असंख्य जीवों का निर्माण-कार्य भी चलता रहता है।

शशक की भाँति जनसंख्या को बढ़ाते हुए भी उसे मर्यादित रखने के लिए प्रकृति के अस्त्रागार में तीन मारक अस्त्र हैं– अकाल, रोग और युद्ध। इनमें से मानवीय विकृति ने प्रकृति के हाथों में युद्ध-पद्धति को एक अस्त्र के रूप में स्वयं सौंप दिया है।

अपनी प्राणि-जातियों के जीवों की छँटनी के लिए प्रकृति के हाथों में 'जीवो जीवस्य भोजनम्' वाला अपना एक निजी ढंग तो है ही। पूर्व-प्रस्तर युग में मनुष्य शेर और चीतों का शिकार होने से बचने का उपाय खोज कर प्रकृति के चंगुल से बच गया था। उसके बाद मनुष्य विकृत होकर फिर प्रकृति के हाथों का खिलौना बन गया। उसने ऐसा कुछ सोचा जिसे प्रकृति स्वयं मानव-बुद्धि के माध्यम के अतिरिक्त कभी न खोज पाती। मनुष्य ने अपनी जाति के लोगों के शिकार की कला में पारंगत होकर युद्ध का आविष्कार किया और अधिकाधिक घातक रूप से उसका संगठन किया। शेर और चीतों की अपेक्षा मनुष्य अधिक कुशल शिकारी प्राणी है। यहाँ तक कि वह इस मामले में कीटाणु से भी अधिक कुशल है। इस प्रकार युद्ध रूपी मानव-निर्मित अस्त्र प्रकृति को सान्त्वना-पुरस्कार के रूप में मिला है। यह अस्त्र प्रकृति को उसके उन दो सहज-सुलभ अस्त्रों की क्षतिपूर्त्ति के निमित्त दिया गया है, जो मनुष्य ने अपने पराक्रम से एक के बाद एक उसके हाथों से छीने थे। पूर्व-प्रस्तर युग में प्रकृति ने हमें शेर और चीतों का शिकार बनाकर नष्ट करना चाहा, पर हमने उसे

ऐसा न करने दिया था। अपने युग में फिर प्रकृति ने हमें कीटाणुओं का शिकार बना कर नष्ट करना चाहा, पर इस बार भी उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई। प्रकृति पर मनुष्य की यह दूसरी विजय पहली से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसे प्राप्त करने में अपेक्षाकृत अधिक कठिनाई हुई। इतना होने पर भी हम प्रकृति के कार्य को आज भी उदार भाव से कर रहे हैं और इतने अच्छे ढंग से जितना कदाचित स्वयं प्रकृति ने भी हमारी सहायता के बिना नहीं किया था।

हम अभी तक मनुष्य निर्मित युद्ध रूपी संस्था को चलाये जा रहे हैं। मान लीजिए कि मेरी यह बात सच निकले कि रोगों द्वारा होने वाली अकाल-मृत्युओं को कम करने में प्राप्त नई सफलता के पश्चात् हम युद्ध द्वारा मृत्यु को समाप्त करने में सफल होते हैं। यदि हमने प्रकृति पर यह दुहरी विजय प्राप्त कर ली तो हम मानव-जाति से सम्बन्धित जन्म और मृत्यु के बीच में स्वाभाविक सन्तुलन को अस्त-व्यस्त कर देंगे। यद्यपि हमने अपने जीवनकाल में दो-दो विश्व-युद्ध किए हैं और उनमें से दूसरा केवल पन्द्रह वर्ष पहले समाप्त हुआ है तथापि रोगों द्वारा होने वाली अकाल मृत्युओं की संख्या को कम करने में जो सफलता मिली है, वह भयंकर रूप से और द्रुत गति से बढ़ने वाली जनसंख्या को मर्यादित रखने के लिए उपयोगी सिद्ध हुई है।

रोग-नियन्त्रक औषधियों के क्षेत्र में हमारी आधुनिक वैज्ञानिक खोजें और स्वास्थ्य-सुधार के लिए इन खोजों को उपयोगी बनाने वाले हमारे शासकीय संगठन—ये दोनों प्रकृति की कार्य-प्रणाली पर मानवीय लक्ष्य को प्रमुखता देने के हमारे संघर्ष में मानव-जाति की महान् विजय के सूचक हैं। किन्तु इन विजयों ने हमारे लिए तब तक संघर्ष से विमुख रहना असम्भव कर दिया है, जब तक कि हम प्रकृति पर प्राप्त अपनी आंशिक विजय को पूर्णता प्रदान कर उसे सुदृढ़ रूप न दे दें। अब चूंकि हम पृथ्वी की जनसंख्या के स्वरूप को नियमित करने की प्राकृतिक पद्धति के स्थान पर मानवीय पद्धति को प्रचलित करने में आंशिक सफलता प्राप्त कर चुके हैं, हमने अपने को इस स्थिति में ला खड़ा किया है कि हम निर्माण से मुँह नहीं मोड़ सकते। हम सन्तति-निग्रह द्वारा ही इस क्षेत्र में प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर सकते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हम प्रयास करके जन्म-संख्या को उस सीमा तक नियमित कर सकते हैं जिस तक कि उसका मृत्यु-संख्या के बराबर आना आवश्यक है। बात यह है कि मानव-प्रयत्न से मृत्यु-संख्या आशातीत रूप में कम हो गई है। दूसरा विकल्प यह है कि हम

जनसंख्या के नियमन का कार्य प्रकृति पर छोड़ दें। किन्तु यदि हम इस दूसरे मार्ग को चुनते हैं तो प्रकृति पर हमारी विजय क्षणजीवी होगी और उससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इससे स्वयं मानव-जाति का क्षणजीवी होना भी सम्भव है।

प्रकृति जन्म और मृत्यु-संख्या को उनके चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने में संलग्न रहती है। अब चूँकि हमने मानव-प्रयत्न से मृत्यु-संख्या को पर्याप्त रूप से कम कर दिया है, पृथ्वी की जनसंख्या तब तक बढ़ती चली जायेगी जब तक कि जन्म-संख्या और मृत्यु-संख्या के बीच का अनुपात अन्ततः पुनः संतुलित नहीं हो जाता। एक बात निश्चित है कि येन-केन प्रकारेण आज या कल इसे संतुलित अवश्य किया जायेगा। इस पृथ्वी पर विद्यमान जीवों की किसी जाति ने कभी न तो अपनी संख्या को अनिश्चित रूप में बढ़ाया और न ऐसा करने में उसे सफलता ही मिल सकी। पृथ्वी पर जीवों के निर्माण के लिए उपयुक्त सामग्री के परिमाण की एक सीमा है। जब किसी जीव-जाति के प्रतिनिधि अपने निजी सजग प्रयत्न से अपनी बढ़ती हुई संख्या को कम नहीं कर या रख पाते, तब इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए बाह्य शक्तियाँ अग्रसर होती हैं। कोई भी मानवेतर प्राणि-जाति अपने निजी प्रयत्न से अपनी संख्या का नियमन करने में असमर्थ है। उसकी संख्या उसके लिए प्रकृति या मनुष्य द्वारा सीमित होती रही है और रहेगी। किन्तु हम मानव-प्राणी अपनी जनसंख्या के नियमन को प्रकृति द्वारा किए जाने के स्थान पर अपने द्वारा किए जाने की सुविधा प्राप्त होने की अभिनव स्थिति में हैं।

हम जिस पथ को चुनने जा रहे हैं, उसका मानव-जाति के भविष्य पर व्यापक रूप से शुभ अथवा अशुभ प्रभाव पड़ेगा। मान लीजिए कि हमने रोगों द्वारा मृत्यु-संख्या को कम करने का पुराना मार्ग चुना, मान लीजिए कि हमने युद्ध द्वारा मृत्यु को समाप्त कर दिया और मान लीजिए कि उस दशा में हमने इससे भी गुरुतर सन्तति-निग्रह के कार्य में भी आशातीत सफलता प्राप्त कर ली। यद्यपि ऐसा करना और भी कठिन है क्योंकि यह सरकारों के पारस्परिक समझौते मात्र से सम्भव नहीं है। यह लाखों पति-पत्नियों के करोड़ों व्यक्तिगत निर्णयों द्वारा ही हो सकता है और ये मानव-प्राणी अपनी सन्तान की संख्या सीमित करने के लिए बाध्य नहीं किए जा सकते। शिक्षा तथा समझाने-बुझाने से उन्हें राजी अवश्य किया जा सकता है और इसमें समय लगेगा। किन्तु कल्पना कीजिए कि यदि हम विज्ञान की सहायता से इस अभीष्ट की पूर्त्ति निर्धारित

समय से पूर्व कर लें, और विश्व की जनसंख्या के लिए अपेक्षित खाद्य-सामग्री जुटा लें तो विश्व की जनसंख्या का नियमन पूर्ण रूप से स्वयं करने में सफलता प्राप्त कर लेंगे। यदि यह स्वप्न साकार हो गया, तो हम श्रेष्ठ मानव-जीवन के उदात्त आदर्शों को मूर्त्त रूप देने की नितान्त नूतन आशा जाग्रत कर सकेंगे। तब हम विश्व में पैदा होने वाले प्रत्येक मानव-प्राणी को यह विश्वास दिलाने योग्य हो जायेंगे कि वह अच्छा जीवन बिताने के लिए महत्तम अवसर प्राप्त कर सकता है। 'अच्छा' से मेरा अभिप्राय यहाँ वस्तुतः मानव-मूल्यों की अच्छाई से है। मानवीय दृष्टि से विश्व की जनसंख्या के स्वरूप को नियमित करने की यह पद्धति अधिक ग्राह्य और लोकप्रिय होगी। कारण, यह विश्व में पैदा होने वाले प्रत्येक मानव-प्राणी को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में देखेगी, जो अपने लिए अनन्त मूल्यवान है। हम प्रकृति की भाँति किसी नर या नारी को अधिक समय तक किसी मूल्यवान प्राणि-जाति के मूल्यहीन प्रतिनिधि के रूप में देखना स्वीकार न करेंगे।

अब हम अपने समक्ष अवशिष्ट वैकल्पिक मार्ग पर विचार करेंगे। यदि हम अपनी जनसंख्या के निर्णय का भार प्रकृति पर छोड़ते है—और अधिकांश देशों में आज भी हम इसे प्रकृति पर छोड़े हुए हैं—तो खाद्य पदार्थों की वृद्धि में विज्ञान की उच्चतम उपलब्धियाँ तक हमें उस भयानक संकट से नहीं बचा सकतीं। वे उसे स्थगित भर कर सकती हैं और वह भी बहुत समय तक नहीं। प्रकृति प्रत्याक्रमण करेगी और विजयी होगी। आज भी प्रकृति ने अपने अंचल में एक ऐसा मारक अस्त्र छिपा रखा है जिससे मनुष्य उसे वंचित नहीं कर पाया है और वह है अकाल का अस्त्र। यदि हम जनसंख्या के नियन्त्रण का कार्य प्रकृति पर छोड़ते हैं तो एक ऐसा समय आयेगा जब वह हम पर फिर अकाल का प्रहार करेगी और अकाल अपने साथ लायेगा महामारी और युद्ध।

हमारे लिए तो क्या प्राक्-परमाणु युग के मनुष्य के लिए भी यह उसकी और उसके मानवीय आदर्शों तथा उद्देश्यों की असह्य पराजय होगी। विश्व-जनसंख्या के नियमन की अपनी पद्धति को आधा लागू करने के पश्चात् हम यह कभी नहीं सहन कर सकते कि वह पुनः प्रकृति की पद्धति से नियमित हो। ऐसा करना अपने को खरगोशों और कीड़े-मकोड़ों के स्तर पर लाने को तत्पर होना है। हमारे ये मानवेतर साथी प्राणी अपेक्षाकृत कम क्रूर और कम घातक ढंग से अपनी संख्या को नियमित करने की क्षमता के अभाव के कारण सहस्रों की संख्या में पैदा होते और मरते हैं। किन्तु मानव-जाति को तो इस परमाणु युग में यह अवसाद-

पूर्ण भविष्य भी सुलभ न होगा क्योंकि युद्ध का वह प्रकार जो बदले में अपने साथ अकाल लेकर आयेगा, धनुष-बाण या बन्दूक-गोली का युद्ध न होगा। वह तो विध्वंसक परमाणु-प्रणाली का युद्ध होगा। इस प्रकार हमें मानव-कृत सन्तति-निग्रह और अकाल प्रेरित परमाणु-युद्ध द्वारा मानव-जाति का स्वतः विनाश---दोनों में से एक को चुनना है।

नई दिल्ली के श्रोताओं के समक्ष बोलते हुए मुझे इस बात पर बल देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि प्रकृति के अस्त्रागार में अकाल आज भी एक सजीव अस्त्र है। इस युग के एक अंग्रेज़ के निकट अकाल एक ऐसी विभीषिका है, जिसे वह दूसरों के अनुभव से ही जानता है। इंग्लैंड के इतिहासकारों का कहना है कि उनके देश में गत छः सौ वर्षों से एक भी अकाल नहीं पड़ा, यहाँ तक कि द्वितीय विश्व-युद्ध के समय भी नहीं। उदाहरणार्थ स्वयं मुझे लीजिए। मैं उस युद्ध के समय निरन्तर कार्यरत रहा और युद्ध-कालीन नियंत्रित भोजन पर जीता रहा, परन्तु मुझे एक बार भी क्षुधा की यन्त्रणा का अनुभव नहीं करना पड़ा। यह स्थानीय और क्षणिक सुरक्षा की भावना मानव-जाति की उस अल्प संख्या की कल्पना को मन्द कर देती है जो हाल में इसका उपभोग करती रही है। लेकिन मैं इस बात को भली-भाँति जानता हूँ कि आपके लिए आपके इस देश में अकाल एक जीवित यथार्थ है। वह मानव जाति के सिर पर आज भी चील की भाँति मँडरा रहा है और बंगाल पर उसके अन्तिम प्रहार का समय कुछ ही वर्ष पूर्व का है। मैं जानता हूँ कि आप खाद्य-उत्पादन में वृद्धि और माता-पिता को परिवारों को छोटा करने को राजी करने के दुहरे कार्य को बड़ी गम्भीरता से कर रहे हैं। यह अत्यन्त उपयुक्त ही है कि संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन के वर्तमान प्रधान संचालक श्री बी० आर० सेन एक अनुभवी और प्रमुख आई० सी० एस० हैं। जहाँ तक जन्मसंख्या के सीमित करने का प्रश्न है, मेरी समझ में आज कोई ऐसी सरकार या जाति नहीं है जो इस विषय में भारतीय जनता और सरकार से अधिक सक्रिय हो।

इस प्रकार मेरे कहने का अभिप्राय केवल यह है कि एक विश्व-जाति के रूप में मानव-जाति का संगठित होना हमारी खाद्य और जनसंख्या की समस्या के हल और युद्ध की समाप्ति के लिए आवश्यक है। एक देश या एक महाद्वीप में जनसंख्या के सीमित होने से मानव-जाति की जन संख्या की समस्या हल नहीं हो सकती। कई पश्चिमी देशों में जनसंख्या को सीमित किया जा चुका है, फिर भी विश्व की जन-संख्या निरन्तर और भयानक रूप से बढ़ती चली जा रही है। अतः जनसंख्या को

सीमित करने के आन्दोलन को कारगर बनाने के लिए उसे विश्वव्यापी रूप देना चाहिए। फिर खाद्य-उत्पादन में वैज्ञानिक वृद्धि को कारगर बनाने के लिए पृथ्वी की समस्त खाद्योत्पादक भूमि एक आर्थिक इकाई में संगठित होनी चाहिए और विश्व के किसी भी स्थान पर उत्पन्न खाद्य-पदार्थ विश्व के किसी भी स्थान के भूखे लोगों के मुँह में पहुँचाने का प्रबन्ध होना चाहिए। जब तक ये संगठनात्मक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं, तब तक जनसंख्या के नियमन को पूर्ण रूप से मानव-नियन्त्रण में लाने की दिशा में किया गया विज्ञान का यह प्रयत्न अपूर्ण ही रहेगा। लेकिन ये आवश्यकताएँ राजनैतिक हैं और इनकी पूर्त्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि उत्पादन का नियन्त्रण स्थानीय सरकारों के हाथों से निकल कर सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न विश्व-सत्ता के हाथों में न पहुँच जाए। उत्पादन के नियन्त्रण और परमाणु शक्ति के उपयोग को केन्द्रित करने की इस आवश्यकता को यदि आप विश्व-सत्ता की आवश्यकता से मिला दें तो आपको विश्व-सरकार के राजनतिक रूप में विश्व-एकता की आवश्यकता अनुभव होने लगेगी।

इस प्रकार आज विश्व-एकता—कम-से-कम आंशिक रूप से कुछ विशेष राजनैतिक संस्थाओं के रूप में—मानव-जाति की आत्म-रक्षा के लिए तत्काल अत्यावश्यक है। वास्तव में यह प्रत्येक मानव-प्राणी का सर्वोच्च ध्येय है। यदि जाति नहीं बचती तो न तो मानव-प्राणी रहेंगे और न किसी मानव-प्राणी को जीने योग्य जीवन देने की सम्भावना ही रहेगी। यह नया संकट, जिसका अब हमारी जाति को सामना करना है—मेरा अभिप्राय अपने हाथों अपने विनाश के संकट से है—समस्त मानव-जाति के प्रति एक नई विश्व-भक्ति की प्रेरणा देने वाला होना चाहिए और इस विश्व-भक्ति को मानव-जाति के इस या उस खण्ड के प्रति परम्परागत मोह से ऊपर उठकर हमारे मस्तिष्कों और हृदयों में प्रतिष्ठित होना चाहिए। अन्ततोगत्वा जब समग्र ही नष्ट हो जायेगा तो उसके अंश तो समाप्त हो ही जायेंगे। इस प्रकार मानव-जाति की एकता का लक्ष्य परम आवश्यक है। फिर भी अब तक मैंने जिस रूप में इस ध्येय को आपके समक्ष उपस्थित किया है, उसके आधार पर अपने को उसके प्रति समर्पित करना उपयोगितावाद ही है और यह मानव-प्रकृति की एक विशिष्टता है कि वह मात्र उपयोगितावादी दृष्टिकोण से ही—भले ही वह कितने ही ऊँचे स्तर का क्यों न हो—सन्तुष्ट नहीं रह सकती। फिर वह स्वयं भी कोई ऐसा प्रेरणात्मक ध्येय नहीं है जो मानव-प्राणियों को महान् और दुर्लभ वस्तुएँ प्राप्त करने की प्रेरणा दे सके। यही नहीं, यदि हमने इनको

उपयोगितावादी दृष्टि से प्राप्त भी कर लिया, तो हम आध्यात्मिक दृष्टि से अपने को और भी अधिक असंतुष्ट अनुभव करेंगे।

तब उपयोगितावाद से परे वह मौलिक उद्देश्य क्या है, जो मानव-जाति को एक परिवार के रूप में साथ रहना सीखने की ओर ले जा रहा है। इस उद्देश्य की सर्वोत्तम व्याख्या के प्रसंग में मुझे एक नाटक की एक पंक्ति का ध्यान आ रहा है। यह नाटक एक कवि द्वारा ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में लिखा गया था। वह था तो अफ्रीका के एशियाई उपनिवेशवादियों का वंशज, पर उसने अपना कर्ममय जीवन रोम में बिताया था और अपने ग्रंथ लैटिन में लिखे थे। वह पंक्ति है *Homo sum, humanum nihil a me alienum puto*—"मैं एक मानव-प्राणी हूँ इसलिए कोई भी वह वस्तु, जो मानवीय है, मेरे लिए उपेक्षणीय नहीं है।" इस लैटिन कवि की मातृ-भाषा फिनिशियन थी और लगभग हिब्रू जैसी ही थी। ऐसे ही मुझे एक दूसरी पुस्तक का एक वाक्य याद आ रहा है, जो एक अज्ञात यहूदी लेखक द्वारा मूल रूप में हिब्रू में लिखी गई थी। यह प्रसिद्ध वाक्य एक अवज्ञामूलक प्रश्न के रूप में है, "क्या मै अपने भाई की सुरक्षा का उत्तरदायी हूँ?" यह केन द्वारा अपने बचाव के लिए कही गई वह प्रथम पंक्ति है, जिसे उसने तब कहा था जब कि उसने अपने भाई एबिल की हत्या कर दी थी और ईश्वर ने इसके लिए उसकी भर्त्सना की थी। जैनेसिस की पुस्तक में जिस ढंग से कहानी कही गई है उससे प्रश्न अपना उत्तर स्वयं दे देता है। ईश्वर इसे स्वीकारोक्ति मानता है, अतः केन के प्रश्न की उपेक्षा करता हुआ वह हत्यारे के सम्बन्ध में सीधा निर्णय करता और दण्ड की आज्ञा सुनाता है।

यहाँ हमें मानवीय एकता के ऐसे उद्देश्य का साक्षात्कार होता है, जो क्षणिक उपयोगितावादी विचारधारा से उद्भूत नहीं होता। यहाँ तक कि अत्यन्त आवश्यक और समादरणीय शुष्क तथ्यात्मक विचारों से भी नहीं। यहाँ हमें नितान्त भिन्न प्रकार के उद्देश्य का पता चलता है। यह ऐसा उद्देश्य है जो स्वतः पूर्ण है। यह स्वाभाविक रूप से एकता की दिशा में बढ़ने को प्रेरित करता है। यह उद्देश्य उतना ही पुराना है, जितना कि मानव-स्वभाव और वह तब तक अच्छाई को पकड़े रहेगा जब तक कि एक भी मानव-प्राणी जीवित है। हम एक-दूसरे के प्रति निश्चित रूप से उत्तरदायी हैं। कदाचित हम ऐसी किसी भी वस्तु के प्रति उदासीन नहीं रह सकते, जो हमारे साथी मानव-प्राणियों से सम्बन्ध रखती हो। हम जानते हैं कि यही सत्य है और इसके अनुसार कार्य करने में हमें अपने आप को बाध्य न मानकर स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होना पड़ता है। निस्संदेह जिस क्षण

से हमारे प्राक्-मानव पूर्वज मानवोचित गुणों से युक्त हुए, उसी क्षण से हम में से प्रत्येक ने इस आन्तरिक प्रकाश का विरोध कर न्यूनाधिक जघन्य पाप किया है। जैनेसिस की पुस्तक के जिस खण्ड का उद्धरण मैंने दिया है, उसके अज्ञात लेखक ने प्रथम हत्या का समय मानव-जाति की दूसरी पीढ़ी में ही रखा है। प्राचीनतम ऐतिहासिक विवरणों से हमें ज्ञात होता है कि मानव-प्राणियों द्वारा एक-दूसरे के प्रति अमानुषिक और निष्ठुर व्यवहार उस काल में भी होता रहा, जबकि युद्ध द्वारा अमानुषिक अत्याचारों का चक्र अभी नहीं चला था। हमने अपनी पीढ़ी में ऐसे-ऐसे भयंकर अत्याचार किए हैं, जिन्हें किसी भी ऐतिहासिक विवरण के समकक्ष रखा जा सकता है। इन पापों के लिए आज हम जीवितों में से प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी है, भले ही वह उत्तरदायित्व बहुत ही कम क्यों न हो। सम्भव है कि किसी के अपराध का भाग बड़ा न हो पर एक-दूसरे के प्रति किए गए हमारे ये पाप हमारे अन्तःकरण को कचोटते रहते हैं। हम यह जानते हैं और अनुभव भी करते हैं कि साथी मानव-प्राणी होने के नाते हमें एक-दूसरे के साथ एक परिवार के सदस्यों की भाँति ही रहना चाहिए। वस्तुतः यही भ्रातृत्व की भावना का मौलिक स्रोत है।

भ्रातृत्व की भावना समस्त मानव-प्राणियों में, चाहे उन्हें किसी विशिष्ट सभ्यता में पालित-पोषित होने का अवसर क्यों न मिला हो, जन्मजात होती है। भारतीय परम्परा में पालित-पोषित होने वाले व्यक्तियों की सहानुभूति की परिधि बहुत विस्तृत है। चिरकाल से भारत की मान्यता यह रही है कि भ्रातृत्व की भावना केवल मानव-प्राणियों तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत उसमें सभी चेतन प्राणी समाविष्ट हो जाते हैं। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि भारत में आते ही पश्चिम के किसी व्यक्ति को जो पहली बात देखने को मिलती है, वह यह है कि यहाँ के जंगली पशु-पक्षी भी मनुष्यों से उस प्रकार भयभीत नहीं होते, जैसा कि वे पश्चिमी देशों में होते हैं। उनके व्यवहार से पता लगता है जैसे उन्हें मानव-प्राणियों से किसी प्रकार की हानि की आशंका ही न हो। इन जंगली जीवों का यह विश्वास उनके अनुभव पर ही आधारित होगा। भारतीय पशु-पक्षियों का मानव-प्राणियों के व्यवहार का यह अपेक्षाकृत सुखद अनुभव इस बात का द्योतक है कि भारतीय लोग निश्चित रूप से यह अनुभव करते हैं कि भ्रातृत्व की भावना के बन्धन केवल मानव तक ही सीमित नहीं हैं। विज्ञान ने हाल ही में खोज की है कि मनुष्य सहित समस्त चेतन प्राणि-वर्ग का उद्भव एक ही मूल स्रोत से हुआ है। इस प्रकार चेतन प्राणियों के प्रति भ्रातृत्व की भावना की यह प्राचीन धारणा कई सहस्र वर्ष

पुरानी है। यह इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है कि प्रातिभ-ज्ञान ने विज्ञान से पहले ही इस तथ्य का अनुभव कर लिया था।

मेरा विश्वास है कि सभी युगों का भारतीय साहित्य इस उदारतापूर्ण भाई-चारे की भावना की उच्चस्तरीय अभिव्यक्ति से परिपूर्ण है। अपने अज्ञान के कारण मैं उदाहरण देने में असमर्थ हूँ, इसलिए अपनी बात का समर्थन लैटिन और हिब्रू के प्राचीन साहित्य से करूँगा, संस्कृत, पाली या तमिल से नहीं। किन्तु भ्रातृत्व भावना की इस सहज अनुभूति के लिए मैं चाहे भारतीय साहित्य से उदाहरण न दे पाऊँ पर एक भारतीय का स्मरण तो दिला ही सकता हूँ। हम भ्रातृत्व की भावना को अनुभव तो करते हैं, पर उसे अपने जीवन में नहीं उतारते। अशोक केवल एक सम्राट् के रूप में विख्यात नहीं है। सम्राट् तो अच्छे और बुरे अनेक हुए हैं। अतः सम्राट् होना किसी मनुष्य को स्मरणीय नहीं बना सकता। अशोक यदि विख्यात हैं, तो एक ऐसे सम्राट् के नाते, जिसने भ्रातृत्व की व्यापक मानवीय भावना को अपने जीवन में चरितार्थ किया था। उसे जो नैतिक क्षेत्र की एक महान् विभूति कहा गया है, सो उचित ही है। कारण, जो सर्वोच्च शक्ति किसी व्यक्ति को अपने साथी मानव प्राणियों से भाई की भाँति व्यवहार करने का अवसर प्रदान करती है, वह अभूतपूर्व ढंग से किसी को अपने अन्तःकरण की आज्ञा न मानने को भी फुसला सकती है और इच्छा रखते हुए भी उसके अनुसार काम करना अत्यन्त कठिन है।

अशोक इसलिए याद किया जायेगा कि उसने अपनी राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करते समय अपनी अन्तरात्मा की पुकार को कार्यरूप में परिणत किया। इसको दृष्टिगत रखकर यह और भी ध्यान देने योग्य है कि वह हमसे भिन्न प्राक्-परमाणु युग में रहता था। अतएव प्रत्यक्ष रूप से उसके समक्ष तीव्र उपयोगितावाद की वह प्रेरणा नहीं थी जो हमारी पीढ़ी को परिचालित करती है, और जिसके अनुसार राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध के अस्त्र का प्रयोग त्याज्य है। तत्कालीन मनुष्य को उस समय सुलभ भयानक से भयानक अस्त्रों से युद्ध करते समय अशोक को समग्र मानव-जाति के ध्वंस की बात तो क्या, अपनी प्रजा को भी समाप्त होने का भय न रहता। उदाहरणार्थ यदि उसने कलिंग-विजय के बाद भारतीय प्रायद्वीप की दक्षिणी सीमा और उससे मिले लंका द्वीप को भी जीतने का संकल्प किया होता, तो भी उसे उस आत्म-ग्लानि में फँसने का डर न होता जो अब वास्तविकता है। अपना राज्य बढ़ाने का सुअवसर प्राप्त करने के लिए तथाकथित प्राकृतिक सीमाओं को आगे खिसकाना राज्यों के शासकों को ग्रसित

करने वाले भारी प्रलोभनों में से एक है। ऐसा करते समय अशोक शांति के नाम पर युद्ध का औचित्य भी सिद्ध कर सकता था। उस स्थिति में वह समस्त उप-महाद्वीप में ऐसी शांति स्थापित करने का दावा कर सकता था, जो राजनैतिक अखण्डता से आती है।

जैसा कि हम जानते हैं, अशोक परम्परागत राज्य-नीति के अनुसार सोचने और कार्य करने की अपेक्षा नितान्त भिन्न प्रकार से क्रियाशील होने को उद्यत हुआ—और उद्यत हुआ अपने समस्त शेष जीवन के लिए—विजयाकांक्षापूर्ण आक्रामक युद्ध द्वारा कलिंग को मौर्य साम्राज्य में मिलाने के अपराध के विरुद्ध नैतिक अरुचि के कारण। अत्याचार और आक्रमणजन्य यंत्रणाओं के ताण्डव नृत्य को देखकर उसका हृदय हिल गया। भ्रातृत्व की भावना के विरुद्ध उसने जो कुकृत्य किया था उसके लिए उसकी अन्तरात्मा ने उसे धिक्कारा और उसने अपने तथा अन्य राज्य वंशों की परम्परागत नीतियों से पूर्णतया सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। अशोक का परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद करना बड़ी भारी बात है—विशेषकर तब जबकि साम्राज्य-निर्माण के अस्त्र के रूप में युद्ध की घातक नीति का प्रयोग मौर्यों के लिए कोई विशेष बात नहीं थी। यानी सभी सम्राट् ऐसा करते थे। संसार के जिस किसी शासक में इस नीति को अपनाने की शक्ति थी उसके लिए यह नीति एक साधारण-सी बात थी। अशोक के बाबा चन्द्रगुप्त को उभाड़ने के लिए उसके समक्ष सिकन्दर का बुरा उदाहरण था। इसी प्रकार सिकन्दर के समक्ष साइरस का बुरा उदाहरण था। ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व तक के मिश्री और सुमेरी साम्राज्य-निर्माताओं तक यह गर्हित कर्म-शृंखला अखंडित रूप में मिलती है। अपने इन पूर्वजों के विपरीत अशोक ने अपने शेष जीवन और अपनी समस्त राजनैतिक शक्ति को, भ्रातृत्व की भावना को क्रियात्मक रूप देने में लगा दिया।

युद्ध का परित्याग करते हुए अशोक ने मानव-जाति को एक करने के ध्येय को नहीं छोड़ा, प्रत्युत तब से उसने अपने इस ध्येय को सैनिक-पद्धति की अपेक्षा मिशनरी पद्धति द्वारा पूर्ण कराने का उद्योग किया। निश्चय ही उसने लंका तथा अपने साम्राज्य के पश्चिमी सीमान्त पर स्थित उन विस्तृत प्रदेशों में हस्तक्षेप किया, जो उसके समय में सिकन्दर के लड़ाकू मकदूनिया-निवासी यूनानी उत्तराधिकारियों के युद्धों से त्रस्त थे। किन्तु अपने साम्राज्य के बाहर की राजनैतिक सीमाओं में अशोक ने जो हस्तक्षेप किया, वह उसने बौद्ध धर्म-विषयक आचार-विचार के ज्ञान के प्रसार द्वारा किया। उसने अपने धर्म-प्रचार-कार्य

के लिए किसी "प्राकृतिक सीमा" को बाधक नहीं माना। उसने पृथ्वी-तल पर बसे किसी प्रदेश को नहीं छोड़ा। आज बौद्ध धर्म समस्त पूर्वी एशिया में व्याप्त है। बौद्धों की आध्यात्मिक भ्रातृत्व-भावना विश्व को एक करने वाली शक्तियों में से एक बड़ी शक्ति रही है और अब भी है। बौद्धों की भ्रातृत्व-भावना आज शक्तिशाली होती दिखाई दे रही है। तीन वर्ष पहले जब मैंने भारत के दो पवित्र बौद्ध धर्मस्थान सारनाथ और बोधगया देखे थे, तब कम-से-कम मुझ पर तो यही प्रभाव पड़ा था। वस्तुतः बौद्ध धर्म की सामर्थ्य और शक्ति का उल्लेख कई कारणों से किया जा सकता है। उनमें से एक कारण निश्चय ही ईसा से ३०० वर्ष पूर्व अशोक का हृदय-परिवर्तन और अपने अनुभव को क्रियात्मक रूप देना है।

अशोक का कार्य यह भी प्रदर्शित करता है कि भारत में भ्रातृत्व की मानवीय भावना केवल अन्य मानव-प्राणियों के प्रति भाई-चारे की भावना तक ही सीमित नहीं है। यदि मेरा कथन सत्य है तो अशोक ने राजकीय आखेट-प्रथा को समाप्त कर दिया था, अपने दरबार को शाकाहारी बना दिया था और वर्ष के ५६ दिनों के लिए अपनी प्रजा-द्वारा पशु-बध को कानून-विरुद्ध घोषित कर दिया था। भारत में विशाल हृदयता की यह परम्परा कितनी शक्तिशाली है, इसका प्रमाण यह असाधारण तथ्य है कि अशोक के १,८०० वर्ष बाद मानवेतर प्राणियों के प्रति भ्रातृत्व की इस भारतीय भावना को व्यक्त करने वाली वे ही तीन बातें भारत के एक दूसरे सम्राट् अकबर ने भी लागू कीं।

अकबर को जिस भारतीय धर्म के प्रभाव के कारण ये कदम उठाने की प्रेरणा मिली वह जैन धर्म है, बौद्ध धर्म नहीं (बौद्ध धर्म भारत में अकबर के ४०० वर्ष से कुछ पूर्व ही अपना प्रभाव खो चुका था)। जो कुछ भी हो, यह एक भारतीय प्रभाव था। भारत में रहते हुए अकबर की भावना का जो भारतीयकरण हुआ, उसे भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की उस शक्ति का ज्वलन्त उदाहरण माना जाना चाहिए, जो अपनी सीमा में प्रवेश करते ही विदेशियों को मुग्ध कर लेती है। तैमूर के क्षणिक आक्रमणों को छोड़कर अकबर के पूर्वजों ने उसके बाबा बाबर के आक्रमण के समय तक भारत-भूमि पर पैर नहीं रखे। बाबर ने भी अपने जीवन का एक बहुत बड़ा भाग खैबर दर्रे के पश्चिम में इसलिए बिताया था जिससे वह अपने को भारत की भूमि पर अच्छी तरह रहने के योग्य बना सके। बाबर के नाती के रूप में अकबर का पालन-पोषण एक मुस्लिम की भाँति हुआ था और इस्लाम यहूदी परिवार के दूसरे दो धर्मों की भाँति भारतीय उद्गम वाले

धर्मों और दर्शनों की तुलना में अलगाव और असहिष्णुता की प्रवृत्ति वाला था। फिर भी अकबर पर भारत का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उसने अपने लिए एक नए धर्म का आविष्कार किया। विशाल हृदयता से पूर्ण उदारता के कारण अकबर का 'दीन इलाही' तात्विक दृष्टि से भारतीय ही था।

यद्यपि अकबर ने अशोक की भाँति पशु-बध को त्याग दिया था तथापि वह अशोक की मानव-प्राणियों के विरुद्ध युद्ध न करने की बात को न अपना सका। इसमें कोई संदेह नहीं कि व्यावहारिक दृष्टि से अशोक की अपेक्षा अकबर के लिए ऐसा करना कठिन था क्योंकि अशोक को एक ऐसा साम्राज्य मिला था जिसकी सत्ता दृढ़ थी जब कि अकबर को एक ऐसे साम्राज्य की पुनर्स्थापना करनी थी, जिसे उसके पिता ने बाबा के जीतने के बाद ही खो दिया था। बहुत सम्भव है कि मानव-प्राणियों के विरुद्ध युद्ध न करने का बीड़ा उठाने में अकबर को अपने सिंहासन के साथ-साथ अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ता। इतना होने पर भी हमारा अनुमान है कि यदि संयोगवश अशोक अकबर के स्थान पर पैदा हुआ होता, तो उसने वही किया होता जो कि अपने समय में किया था।

परमाणु-युग में हम अपने राजनैतिक नेताओं में जो भावना देखना चाहते हैं वह निश्चय ही अशोक की भावना है। अब एकता के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। किन्तु उस अपरिहार्य लक्ष्य की प्राप्ति बल-प्रयोग से सम्भव नहीं है। इस युग में बल-प्रयोग के स्थान पर हृदय-परिवर्तन ही वह साधन है, जो मानव-जाति की एकता के लिए काम में लाया जा सकता है। परमाणु-युग में शक्ति के प्रयोग का परिणाम एकता न होकर आत्म-हनन होगा। इस युग में हमारा भय और विवेक दोनों ही उस नीति के हामी हैं जिसे अशोक ने अपने समय में अपनाया था और जिसका अनुसरण करने के लिए उसने केवल अपने अन्तःकरण से ही प्रेरणा ली थी।

विश्व-एकता-आन्दोलन की प्रगति

अपने प्रथम व्याख्यान में मैं विश्व एकता की तात्कालिक आवश्यकता और आत्म-विनाश के उस संकट की चर्चा कर रहा था, जो समय की माँग को पूरा न कर पाने की स्थिति में हमें भोगना पड़ेगा। मानव-जाति आज उस सर्वनाश की भयप्रद छाया में जी रही है, जो एक प्राचीन ग्रीक दार्शनिक सम्प्रदाय के अनुसार विश्व के वातावरण के ऊपर मँडरा रहा है और मेरा विचार है कि भारतीय दर्शन के अनेक सम्प्रदाय भी इसी का समर्थन करते हैं। एपीक्यूरस के रोमन अनुयायी दार्शनिक और कवि लुक्रेशियस के शब्दों में—"मृत्यु का द्वार बन्द नहीं है।..... वह भयावह रूप में खुला पड़ा है और हमें अपने दैत्याकार जबड़े खोले देख रहा है।" जैसा कि हम जानते हैं, मानव-जीवन की आवश्यकताएँ अपनी पूर्त्ति स्वयं नहीं कर पातीं चाहे अस्तित्व ही दाँव पर क्यों न लगा हो। इसलिए अब मैं भविष्य की सम्भावनाओं पर विचार करूँगा और वे स्पष्टतः अनिश्चित हैं। आज मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति के अनुकूल और प्रतिकूल दिखाई देने वाले तथ्यों का धुंधला-सा आभास ही पा सकता है।

कदाचित सबसे पहला प्रश्न जो खड़ा होता है, वह मेरे इस व्याख्यान के शीर्षक को ही चुनौती देता है। मैंने इसे "विश्व एकता-आन्दोलन की प्रगति" नाम दिया है। लेकिन क्या यह शीर्षक पूरे प्रश्न का कुछ भी समाधान प्रस्तुत करता है? क्या दिन-प्रति दिन घटने वाली घटनाएं यह नहीं दिखातीं कि विश्व आज तक एकता की ओर बढ़ने की अपेक्षा उससे दूर जा रहा है और द्रुत गति से जा रहा है?

उदाहरणार्थ राजनैतिक क्रिया-कलाप के स्तर पर हमारे समय की कौन-सी गतिविधि सबसे प्रमुख है? क्या साम्राज्यों का खण्ड-खण्ड होना और पृथक् राष्ट्रीय सरकारों की संख्या में वृद्धि होना ही वह प्रवृत्ति नहीं है? विघटन की यह विश्व व्यापी प्रवृत्ति इस उप-महाद्वीप में सन् १९४७ में घटित होने वाली घटनाओं से नाटकीय रूप में प्रकट है। अतीतकालीन मौर्य, गुप्त और मुगल शासनों की भाँति ब्रिटिश शासन ने इस उप-महाद्वीप को राजनैतिक दृष्टि से एक कर दिया था। गत शताब्दी के ब्रिटिश शासन में इस उप-महाद्वीप में जो राजनैतिक अखण्डता रही वह उक्त तीनों शासनों में से किसी से भी अधिक व्यापकता लिए थी। लेकिन जब सन् १९४७ में अंग्रेज़ों ने भारत छोड़ा तब

ब्रिटिश-भारतीय साम्राज्य न केवल एक वरन् तीन राज्यों में बँट गया। भारत और पाकिस्तान के बीच खींची गई सीमा-रेखाएँ वैसी ही कृत्रिम और अस्वाभाविक हैं जैसी कि सन् १९१८ में हैप्सबर्ग के एकतन्त्र के टूटने के बाद पूर्वी यूरोप में बनी सीमा-रेखाएँ थीं। काश्मीर की विवादास्पद सीमा-रेखा पर तो आज तक समझौता नहीं हो पाया है और अब भारत की आन्तरिक सर्वमान्य सीमाओं में भी विभाजन-आन्दोलन प्रारम्भ हो गया है। आज के भारत संघ का आन्तरिक व्यवस्था-विषयक मानचित्र इस दृष्टि से पुनर्निर्मित हुआ है कि संघीय वैधानिक राज्य विभिन्न स्थानीय भाषाओं द्वारा अधिकृत प्रदेशों से अधिकाधिक मेल खा सकें।

यह भी पूर्वी यूरोप के ढंग का ही एक परिवर्तन है। यह भारत में पूर्वी यूरोप की उस विचारधारा का प्रयोग है जिसे भाषाई राष्ट्रीयता कहा जा सकता है। भारत में पूर्वी यूरोप की भाँति भाषाई राष्ट्रीयता की आकांक्षा की पूर्त्ति के निमित्त राजनैतिक मानचित्र का जो पुनर्निर्माण किया गया है, उसने मतभेदों को जन्म दिया है और असंतोष उत्पन्न कर दिया है। ये दुष्परिणाम अपरिहार्य रहे हैं। कोई कितनी ही सचाई और सावधानी से नई विभाजक रेखाएँ खींचे, कुछ अल्प-संख्यकों के प्रति अन्याय हो ही जायेगा। उदाहरणार्थ बम्बई जैसे विशाल व्यापारिक और औद्योगिक नगरों में इस प्रकार से उत्पन्न समस्याएँ विशेष रूप से तीव्र होंगी क्योंकि ऐसे बड़े नगर जिन भाषाई सीमा-रेखाओं के बीच स्थित होते हैं उनसे बहुत दूर-दूर तक के प्रदेशों के निवासियों को अपने भीतर बसने को आकर्षित करते हैं। निस्संदेह भाषाई आधार पर भारत का यह विवादास्पद पुनर्विभाजन अनिवार्य रहा है। यह समग्र विश्व में हो रहा है। उदाहरणार्थ एक छोटे स्तर पर यह बर्मा में हो रहा है। यह अनिवार्य है क्योंकि यह प्रजातन्त्र के संचालन के लिए अपेक्षित परिस्थितियों में से एक है। हमारे युग में प्रजातांत्रिक विधान एक के बाद दूसरे देश में लागू हो रहे हैं। प्रजातन्त्र को प्रभावशाली ढंग से चलाने के लिए राजनैतिक इकाइयों को यथासम्भव भाषाई क्षेत्रों से जोड़ना पड़ेगा क्योंकि संसार के अधिकांश व्यक्ति केवल अपनी मातृभाषा ही बोलते और समझते हैं। विश्व की जनसंख्या में द्विभाषी और बहुभाषा-भाषी मनुष्य अब भी अत्यन्त कम संख्या में हैं।

इस प्रकार राजनैतिक विघटन का यह क्रम आवश्यक जान पड़ता है। लेकिन आवश्यकता इस क्रम को विघटनकारी नहीं बनाती और विघटन चाहे अवश्यम्भावी हो या न हो, सर्वविदित है। तब क्या यह कहना सत्य न होगा कि आज विश्व के समस्त मनुष्य मानव-जाति की एकता के प्रति जागरूक न होकर

एक दूसरे से अलगाव के प्रति अधिक सचेत हो गए हैं ! फिर यह केवल चेतना की बात नहीं है । अलग रहने की चेतना राष्ट्रीय भावना जाग्रत करती है। उदाहरणार्थ भारत और पाकिस्तान तथा बर्मा और सीलोन में स्वतन्त्रता के जो परिणाम हुए हैं, उनमें से एक अपने विशिष्ट भाषाई समूह के प्रति भावात्मक आसक्ति है । यह एशिया के लिए एक नई कठिनाई है यद्यपि यह यूरोप की भी एक पुरानी परेशानी है । भारत में बम्बई के मराठों और गुजरातियों की पारस्परिक कटुता बहुत अधिक बढ़ गई है।* भारतीयों और पाकिस्तानियों में काश्मीर पर एवं भारतीयों और चीनियों में भारत और चीन की सीमा तथा तिब्बत के प्रति चीन के व्यवहार पर गहरा तनाव इसका और भी बड़ा प्रमाण है।

यदि कोई विश्व-एकता के लिए उत्सुक है—और उत्सुक है इसलिए कि उसके अभाव में विश्वव्यापी प्रलय ही एकमात्र अवशिष्ट उपाय है—तो उसे अपने को दिवास्वप्नों में न खोने देना बड़े महत्त्व की बात है । उसे परस्पर-विरोधी दिशाओं में प्रवाहित विचारधाराओं की गतिविधि को ध्यान से देखना चाहिए और इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि उसने उनकी शक्ति को कम तो नहीं आँका है । उसे ऐसा इसलिए करना चाहिए कि वह वर्तमान विघटन और संघटन की प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रख सकने की स्थिति में हो सके।

प्रश्न यह है कि भेद पैदा करने वाली शक्तियाँ कौन-सी हैं ? हमने उनमें से एक को पहले ही जान लिया है। राष्ट्रीयता का भाषाई रूप प्रजातन्त्र की आनुषंगिक उपज है। जहाँ तक स्वयं राष्ट्रीयता का सम्बन्ध है एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका में आज यह स्पष्टतः हाल ही की उन राजनैतिक गतिविधियों की प्रतिक्रिया है, जिनके कारण पृथ्वी-तल के बड़े-बड़े भाग एवं जनसंख्या के बड़े-बड़े अंश आधे दर्जन छोटे-छोटे देशों के गुलाम थे। ये देश प्राचीन विश्व के यूरोपीय प्रायद्वीप के अटलांटिक समुद्र-तट के किनारे फैले हुए थे। समग्र भूमण्डल में व्याप्त यूरोपीय उपनिवेशवादी साम्राज्यों का यह जाल एक असाधारण राजनैतिक इन्द्रजाल था, जो अब नितान्त नश्वर सिद्ध हो चुका है। हमारे जीवन-काल में ही ये उपनिवेशवादी साम्राज्य बिखरते रहे हैं। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् तो उनके बिखरने की गति और भी तीव्र हो गई है । वास्तव में विश्व का राजनैतिक मानचित्र फिर साधारण स्थिति में आ रहा है।

स्थिति के साधारण होने की बात इस अर्थ में कही गई है कि पश्चिमी यूरोप के उपनिवेशवादी युग में विदेशी शासन के अन्तर्गत मानव-जाति का एक बहुत

*उस समय तक महाराष्ट्र प्रान्त नहीं बना था और कटु वादविवाद जारी था।—अनुवादक

बड़ा भाग असाधारणता की स्थिति में जा रहा था। दूसरी ओर जब साधारणता की स्थिति में लौटने की बात कही जाती है, तो हम देखते हैं कि संसार पूर्णरूपेण पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यों के स्थापना-काल के पहले की स्थिति में नहीं लौट रहा है। ये साम्राज्य मानव-जाति को वांछित राजनैतिक एकता देने में समर्थ नहीं थे। वे राजनैतिक असमानता पर आधारित थे और इस कारण बालू पर बने महल की तरह थे। फिर भी उनमें से आधे दर्जन एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा कर रहे थे। इसलिए औपनिवेशिक साम्राज्यों के राजनैतिक ढाँचों का लड़खड़ा जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन वे साम्राज्य राजनैतिक ढाँचे होने के साथ-साथ सांस्कृतिक संगम, आदान-प्रदान और मिश्रण के भी माध्यम थे। इस सांस्कृतिक आधार से यह स्पष्ट है कि इस असामान्य और अल्पकालिक राजनैतिक गतिविधि का प्रभाव भी स्थायी और महत्त्वपूर्ण होगा।

जब हम अपना ध्यान वर्तमान राष्ट्रवाद के नकारात्मक रूप से हटाकर उसके सकारात्मक रूप पर केन्द्रित करते हैं, तब यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। अपने नकारात्मक रूप में यह विदेशी शासन के अन्तर्गत असामान्य राजनैतिक स्थिति के विरुद्ध स्वाभाविक और स्वस्थ विद्रोह हो जाता है, जब कि अपने सकारात्मक रूप में यह एक नई विश्वव्यापी आधुनिक सभ्यता के निमित्त सम्मिलित सहयोग पर आधारित विश्वव्यापी समाज में प्रविष्ट होने के लिए आन्दोलन का रूप ले लेता है।

जैसे-जैसे यह नई विश्व-सभ्यता विकसित होती जायेगी, निस्संदेह वैसे ही वैसे यह समस्त ऐतिहासिक प्रादेशिक सभ्यताओं की बड़ी-बड़ी देनों को ग्रहण एवं आत्मसात् करने के कारण तीव्र गति से समृद्ध होती जायेगी। लेकिन यह नई विश्व-सभ्यता जिस लागत-पूँजी से अपना व्यापार आरम्भ कर रही है, प्रारम्भिक स्थिति में उसका प्रमुख भाग एक विशेष प्रादेशिक सभ्यता अर्थात् पाश्चात्य सभ्यता की देन है। इसका ऐतिहासिक कारण सर्वथा स्पष्ट है। आधुनिक युग में पश्चिम ने मानव-जाति को एक करने में अग्रदूत का कार्य किया है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि प्रारम्भ में नई विश्व-सभ्यता का ढाँचा मुख्य रूप से पश्चिमी ढंग का हो। लेकिन यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही अत्यन्त रोचक भी है कि हमारी आधुनिक सभ्यता के पश्चिमी उद्गम ने मानव-जाति की पश्चिमेतर बहुसंख्या को उसे अपनाने से नहीं रोका। वस्तुतः यह प्रथम और सकारात्मक ध्येय है कि विश्व के एक-के-बाद दूसरे नए स्वतन्त्र देश स्वेच्छा से और जान-बूझ कर एक बार फिर अपने राजनैतिक भाग्य का निर्माण करने के लिए उद्यत हैं। राजनैतिक

स्तर पर मुक्त जनता का राष्ट्रवाद पश्चिमी राजनैतिक प्रभुत्व के विरुद्ध रहा है लेकिन ऐसा इसने पश्चिमी राजनैतिक आदर्शों के नाम पर किया है। पश्चिमी राजनैतिक आदर्श (मेरा अभिप्राय वास्तव में पश्चिमी प्रजातन्त्र से है, उसके घोर प्रतिद्वन्द्वी पश्चिमी अधिनायकवाद से नहीं) उन नैतिक सिद्धान्तों से निर्मित हैं जो सबके लिए समान हैं और जिनके नाम पर पश्चिमेतर देशों के राजनैतिक आन्दोलन सांस्कृतिक स्तर पर अपनी ही सांस्कृतिक विरासतों की असंगतियों के विरुद्ध रहे हैं।

वास्तव में पश्चिमेतर देशों में वर्तमान क्रांति दुहरी है और इन दो सामान्य चलने वाली क्रांतियों में प्राक्-आधुनिक घरेलू प्रथाओं के विरुद्ध चालित पश्चिम-प्रेरित नैतिक विद्रोह की तुलना में पश्चिमी शासन के विरुद्ध चालित राजनैतिक विद्रोह नरम और ऊपरी है। इस स्तर पर नए स्वतन्त्र देशों ने अपने जीवन की परम्परागत प्रथाओं में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रारम्भ कर दिए हैं। ये परिवर्तन इतने अधिक क्रांतिकारी है कि इन देशों के भूतपूर्व विदेशी शासक स्वप्न में भी उन्हें लागू करने का विचार न कर सकते थे। स्थानीय नैतिक तथा सांस्कृतिक परम्पराओं से यह सम्बन्ध-विच्छेद हमारे समय की भारी उथल-पुथल है और यह क्रांतिकारी आन्दोलन मानव-जाति को प्रारम्भिक राजनैतिक आन्दोलन की प्रवृत्ति की विरोधी दिशा में ले जा रहा है। यह उसे एकता से दूर न ले जाकर उसकी ओर ला रहा है। चूंकि मानवीय जगत में राजनीति की अपेक्षा सभ्यता का अधिक महत्व है, इसलिए मेरा अनुमान है कि एकता के लिए निर्मित नैतिक एवं सांस्कृतिक धारा भेद के लिए निर्मित राजनैतिक धारा पर हावी होने जा रही है।

स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही एकता की ओर अग्रसर होने वाला यह आन्दोलन अपने को राजनैतिक स्तर पर भी मुखरित कर देता है। केन्द्रापसारी राजनैतिक आन्दोलन किसी दूसरी यानी विदेशी जाति द्वारा शासित या अधिकृत होने के विरुद्ध विद्रोह का रूप लेता रहा है। लेकिन स्वतन्त्रता पारस्परिक निर्भरता की विरोधी नहीं है और निस्संदेह जब स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई है, तब यह पारस्परिक निर्भरता एक आवश्यकता सिद्ध होती है और अब तो वह आवश्यकता ही नहीं वरन् एक वास्तविकता है। 'आधुनिक जगत की विषम परिस्थितियों में' अपने सामाजिक और राजनैतिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए उद्यत राष्ट्र अपने लिए सब प्रकार की क्रियात्मक सहायता और विशेषज्ञों की सम्मति आवश्यक समझते हैं। जिस प्रकार की सहायता की उन्हें आवश्यकता है वह कदाचित सबसे अधिक यह है कि वे यह जानें कि वे अपनी सहायता किस प्रकार

करें। नए स्वतन्त्र राष्ट्र प्रारम्भ में अपनी स्वतन्त्रता के लिए स्वभावतः बड़े जागरूक रहते हैं। वे सम्भावित आघातों और अपहरणों पर कड़ी दृष्टि रखते हैं। इतना होने पर भी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति ने उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ और उसकी विभिन्न शाखाओं से सम्मति एवं सहायता लेने से नहीं रोका। भूतपूर्व पश्चिमी यूरोपीय उपनिवेशवादी साम्राज्यों के विनाश ने विश्व के राजनैतिक संगठन में एक ऐसी रिक्तता ला दी है, जो उन विनष्ट साम्राज्यों के उत्तराधिकारी राज्यों द्वारा पूर्णरूपेण नहीं भरी जा सकती। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का कार्य इस खाई को पाटना है। वे और नई राष्ट्रीय सरकारें साथ-साथ कार्य करते हुए अपने बीच भूतपूर्व औपनिवेशिक शासन की कार्यवाहियों के निर्माणात्मक अंश को बनाए रख सकती हैं। वे इस कार्य को और अधिक अच्छी तरह कर सकती हैं, क्योंकि उनके पारस्परिक सहयोग में वह राजनैतिक तनाव बाधक नहीं है, जो पहले औपनिवेशिक शासन में शासक और शासित के बीच बाधक था।

नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का महत्त्व स्वीकार करने में नए स्वतन्त्र देश सबसे आगे रहे हैं। लेकिन यह भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि ये संगठन उन देशों के लिए भी अधिकाधिक महत्त्व के होते जा रहे हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक सबल, धनी, अनुभवी तथा जनतांत्रिक भावना-सम्पन्न नागरिकों से युक्त हैं। यह बात पहले से ही देखी जा सकती है क्योंकि विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न राष्ट्र भी समग्र मानव-जाति और पृथ्वी पर उपलब्ध साधनों की दृष्टि से बौने हैं और जैसा कि हम कहा करते हैं, एक ऐसे युग में जिसमें कि वैज्ञानिकता ने दूरी का विनाश कर दिया है, मानव के क्रिया-कलाप संकीर्ण अथवा राष्ट्रीय दृष्टि को छोड़ कर विश्वव्यापी रूप लेने की ओर अग्रसर हैं। इस युग में सारा विश्व ही मानवीय क्रिया-कलाप के लिए कारगर क्षेत्र हो गया है। यहाँ तक कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और रूस जैसे शक्तिशाली देश भी इसे अनुभव करते हैं क्योंकि पारस्परिक सहयोग उनके लिए भी जीवन की अनिवार्यताओं में से एक है।

यही क्यों, जिस विश्व में तकनीकी उन्नति ने दूरी का विनाश कर दिया है, उसमें भी स्थानीय राज्यों का निस्संदेह महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपनी प्रकृति के अनुसार नगरपालिकाओं के कार्य ऐसे हैं जो कि सदैव स्थानीय रूप से ही सम्पादित हो सकते हैं। नालियों की देख-भाल और मरम्मत करना एक गौण कार्य होते हुए भी अपने में महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन एक विश्व-समाज के अन्तर्गत स्थानीय राज्यों को भी सांस्कृतिक कार्य सम्पादित करने पड़ेंगे और यह भाग उस प्राचीन

समय की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होगा, जिसमें कि स्थानीय राज्य मानव-भक्षी विषधर होते थे। मानव जाति की आत्मरक्षा के लिए हमें इन विषधरों के विषदन्त तोड़ने हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि हमें इन स्थानीय राज्यों को उनके परम्परागत युद्ध-विषयक विशेषाधिकारों से वंचित करना है। लेकिन उनके विषदन्तों के निकल जाने पर वे गैर-रूमानी नही लगने चाहिएँ। वे पहले से भी अधिक आकर्षक लग सकते हैं, क्योंकि संयुक्त विश्व में एकता में अनेकता लाने के लिए हम उन पर बहुत-कुछ निर्भर कर सकतें हैं। यह एकता में अनेकता स्वस्थ और सुखी जीवन का आवश्यक अंग है।

विश्व-संगठन के स्तर पर हमें एकता के लिए जो मूल्य देना पड़ेगा, उसका एक अंश यह भी होगा कि चारों ओर एकरूपता और मानवीकरण के दर्शन होंगे। इस मूल्य का भुगतान हमसे जबर्दस्ती न केवल इस रूप में कराया जायेगा कि हम अपने द्वारा आविष्कृत घातक अस्त्रों का उपयोग नहीं कर सकेंगे, वरन् उस प्रवृत्ति के रूप में भी होगा जिसका कि उल्लेख मैंने अभी-अभी किया है। यानी समस्त महत्त्वपूर्ण मानवीय क्रिया-कलाप विश्वव्यापी स्तर पर विकसित होंगे। तकनीकी तथा वैज्ञानिक से भिन्न नैतिक स्तर पर प्राप्त विश्व एकता वस्तुतः निराशाजनक न होकर प्रेरणाप्रद होगी। मानवीय भाईचारे की भावना समस्त मानव-जाति को अपने में समेटते हुए अपने साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना लायेगी। साथ ही नैतिक और वैज्ञानिक स्तर पर आश्रित यह वांछनीय और अपरिहार्य एकता सांस्कृतिक स्तर पर निरन्तर बनी रहने वाली अनेकता द्वारा सन्तुलन को आवश्यक ठहरायेगी और यह एक ऐसा कार्य है जिसे स्थानीय राज्य बराबर करते रह सकते हैं।

उदाहरणार्थ भाषा का क्षेत्र लीजिए। हम विश्व-संगठन के उस सोपान पर पहले ही पहुँच चुके हैं कि यदि कोई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेता है या भौतिक शास्त्र पर पुस्तक लिखता है, तो उसे यह कार्य दो या तीन विश्व-भाषाओं में से किसी एक या दूसरी में करना पड़ेगा। विश्व-व्यवहार के माध्यम के लिए भाषा चुनने में उसे अपने क्षेत्र की सीमित परिधि में से उस भाषा को आवश्यकतानुसार ग्रहण करना पड़ेगा जो सर्वाधिक प्रचलित है। दूसरी ओर किसी कवि के लिए एक ऐसी विश्वभाषा तब तक अपर्याप्त माध्यम होगी, जब तक कि उसके द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट विश्वभाषा उसकी मातृभाषा ही न हो। ऐसा नहीं है कि किसी क्लासिकल भाषा में महान् कविता हो ही न, परन्तु वह निश्चय ही बहुत विरल है। मैं ईसा की बारहवीं शताब्दी में फ्रेंच और जर्मन भाषा-भाषियों

द्वारा लिखित कुछ लैटिन कविताओं को लेता हूँ और आशा करता हूं कि इनसे मिलती-जुलती रचनाएँ संस्कृत में भी होंगी । यह सब होते हुए भी किसी कवि के लिए उसकी मातृभाषा ही स्वाभाविक माध्यम है।

इसका तात्पर्य यह है कि विश्व-समाज में शिक्षितों की एक बहुत बड़ी संख्या को द्विभाषा-भाषी या त्रिभाषा-भाषी होना पड़ेगा । आखिर नेदरलैण्ड और स्विट्ज़रलैंड के अधिकांश निवासी अब भी त्रिभाषा-भाषी हैं । डच या मलयालम† जैसी भाषाओं के, जो न तो विश्वभाषाएँ हैं और न प्रादेशिक ही, बोलने वाले, मातृभाषा के रूप में अपनी भाषाओं को कायम रखें तो यह बौद्धिक दृष्टि से स्फूर्तिप्रद होगा क्योंकि यदि किसी की मातृभाषा ऐसी है जिसे दूसरा सीखना आवश्यक नहीं समझता, तो उसे अपनी मातृभाषा के साथ दूसरी भाषाओं का बोलना, लिखना और पढ़ना सीखने के लिए अपनी दृष्टि से प्रेरित होना पड़ेगा । इसके विपरीत अपनी मातृभाषा का विश्वभाषा होना एक बौद्धिक बाधा है । जैसा कि हिन्दी और अंग्रेज़ी बोलने वालों के साथ है । अंग्रेज़ी और फ्रेंच बोलने वाले आज के संसार में सबसे रद्दी भाषाविद् होने के लिए बदनाम हैं। मेरा विचार है कि जन्मजात बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से वे शेष मानव जाति से हीन नहीं हैं, पर वे अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य कोई भी भाषा सीखे बिना संसार में अपना काम चला सकते हैं। इसलिए वे स्वाभाविक मानवीय आलस्य से ग्रसित होने की ओर झुक जाते हैं। ज्यों-ज्यों हिन्दी समस्त भारत-संघ की राष्ट्र भाषा होती जायेगी, त्यों-त्यों हिन्दी-भाषियों को भी इसी प्रलोभन का सामना करना पड़ेगा। फिर भी हिन्दी भाषा-भाषियों की बौद्धिक सम्भावनाएँ उतनी कुंठित नहीं होंगी जैसी कि अंग्रेज़ी भाषा-भाषियों की हैं क्योंकि हिन्दी भाषा-भाषियों को विश्व-व्यवहार के लिए अंग्रेज़ी, फ्रेन्च या रूसी सीखनी पड़ेगी। लेकिन भविष्य में हिन्दी भाषा-भाषियों को बौद्धिक क्षमता में द्रविड़ भाषा-भाषियों की तुलना में पीछे रह जाने का डर है। कारण, उन्हें नई दिल्ली में कार्य करने के लिए हिन्दी पर अधिकार करना पड़ेगा, न्यूयार्क अथवा टोकियो में कार्य करने के लिये अंग्रेज़ी पर अधिकार करना पड़ेगा और सेगाँव अथवा लियोपोल्डविल में व्यापार करने के लिये फ्रेन्च पर अधिकार करना पड़ेगा।

---

† डच की बात मैं नहीं कहता पर कम से कम मलयालम एक प्रदेश की भाषा है और इसमें महान साहित्य रचा गया है।

—अनुवादक

यदि मानव जाति अपने को अन्त तक आत्मविनाश से बचाने में सफल हो जाती है—जैसा कि मेरा विश्वास है कि वह अवश्य सफल होगी—तो राष्ट्रवाद के प्रति हमारी नीति में अन्ततोगत्वा कुछ संशोधन की आवश्यकता होगी। आज तो हम समय से स्पर्द्धा करते हुए शीघ्रातिशीघ्र विश्व-समाज की रचना के लिए संघर्ष कर रहे हैं। कारण यह है कि यदि हम इस कार्य में असफल हुए या सफलता बहुत विलम्ब से मिली, तो हमें अपने सिर पर घहराते हुए आत्म-विनाश के संकट का सामना करना पड़ेगा। चूंकि राष्ट्रवाद विश्व एकता के मार्ग में प्रमुख बाधा है, इसलिए वह विश्व-इतिहास के वर्तमान अध्याय में मानव-जाति का घोरतम शत्रु है। अतः हमारा तात्कालिक कार्य राष्ट्रवाद के दाँत तोड़ना है। यदि हम किसी प्रकार विश्व-समाज की स्थापना में सफल हो जाते हैं, तो उस विश्व-समाज की शक्तियाँ अधीनस्थ राष्ट्रीय इकाइयों की शक्तियों को दबा कर बढ़ती चली जायेंगी और हम एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जायेंगे, जहाँ राष्ट्रवाद को निरन्तर नीचा रखने के स्थान पर हम उसे जीवित रखने की इच्छा करेंगे, ताकि इन राष्ट्रीय इकाइयों में उपयोगी कार्य करते रहने की पर्याप्त शक्ति बनी रहे। यदि इनके नागरिक इनमें दिलचस्पी लेना छोड़ देते हैं और इनमें रुचि नहीं लेते तो उससे स्वायत्त संस्थाओं के अन्त के साथ-साथ विश्व की स्थानीय अनेकताओं का भी अन्त हो जायगा और विश्व स्तर पर पूर्ण केन्द्रीकरण एवं पूर्ण एकरूपता हो जाने से मानव-जीवन खेदजनक रूप से अपनी समृद्धि खो बैठेगा। ऐसा होने पर कुछ अल्पसंख्यक लोग इस स्थिति में हो जायेंगे कि वे चाहे जो नीति निर्धारित करें और उसे चाहे जैसे कार्यान्वित करें।

रोम साम्राज्य में आगस्टस-युगीन शांति स्थापित होने के बाद जो हुआ, उससे इस संकट की वास्तविकता का उदाहरण मिल जाता है। निर्माणात्मक नेतृत्व के इस महान कार्य ने ग्रीक-रोमन समाज को नाश के गर्त से निकाल लिया। उन नगर राज्यों ने, जो आधुनिक विश्व के जातीय राष्ट्रों के समकक्ष थे, अपने अनवरत पारस्परिक संघर्ष द्वारा ग्रीक-रोमन सभ्यता को लगभग समाप्त-सा कर दिया था। अब वे युद्ध करने की स्थिति में नहीं रह गये थे। परन्तु लोग अब भी उन्हें विस्तृत अधिकारों सहित रहने देने के अभिलाषी थे। वे केवल विश्व-शांति पर उनके द्वारा किए गए अत्यन्त निन्दनीय आघातों के विशेषाधिकार को कम कर देना चाहते थे। इस समय भी स्थानीय सत्ता अधिकतम और विश्व-सत्ता अल्पतम रहने वाली थी। यह द्विसोपानीय राजनैतिक ढाँचा एक आशाजनक प्रयोग था, लेकिन उसकी सफलता दो आधारों के पारस्परिक संतुलन पर निर्भर थी। उनमें से

एक ओर प्रधान आधार तो रोमन विश्व-सरकार के प्रति भक्ति था और दूसरा गौण आधार ऐसे नगर-राज्यों में से एक के प्रति भक्ति था, जो रोमन साम्राज्य की दलगत राजनीति के अखाड़े थे। रोमन शांति के प्रथम सोपान में यह संतुलित एकता प्राप्त हो गई थी। उदाहरणार्थ सन्त पाल रोमन विश्व-राज्य के नागरिक होने पर गर्व करते थे। साथ ही उनको अपने निजी शहर के स्थानीय नगर-राज्य टारसस के नागरिक होने का भी अभिमान था। किन्तु धीरे-धीरे रोमन-साम्राज्य के निवासियों ने नगर पालिका-सम्बन्धी कार्यों में रुचि लेना बन्द कर दिया। नगरपालिका-सम्बन्धी व्यवस्था ठप हो गई और केन्द्रीय सरकार को उसे अपने हाथ में लेना पड़ा। परिणाम-स्वरूप वह केन्द्रीय रूप से बहुत भारी हो गई और यह रोमन-साम्राज्य के ह्रास और पतन के प्रमुख कारणों में से एक था। यह एक ऐतिहासिक प्रमाण है, जिसकी हम कदाचित आज, जबकि हमारी विश्व-सरकार बन रही है, उपेक्षा करने का साहस नहीं कर सकते हैं लेकिन कल जब हमारी विश्व-सरकार सफलतापूर्वक स्थापित हो जायेगी, तब हमारे लिए यह उचित होगा कि हम रोमन-साम्राज्य के इतिहास के इस अध्याय का स्मरण करके और उसे हृदयंगम करके अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दें।

इस बीच हमारा वर्तमान कार्य यह होगा—और यह अत्यावश्यक है—कि हम राष्ट्र-वाद की विघटनकारी शक्तियों पर नियन्त्रण रखें और मानव क्रिया-कलाप के विश्व-एकता की दिशा में बढ़ते हुए ज्वार को सबल बनायें। हमारा यह तात्कालिक कार्य बड़ा भारी है और हो सकता है कि हम कभी-कभी निरुत्साह से ग्रसित हो जायें। ऐसी निराशापूर्ण स्थिति में हम विश्व-इतिहास के वर्तमान अध्याय को दृष्टिगत रख कर साहस संजो सकते हैं। जब हम अतीत की पृष्ठभूमि से हट कर इस पर विचार करते हैं, तो हमें पता चलता है कि विश्व-एकता का आन्दोलन उतना ही प्राचीन है जितनी कि स्वयं सभ्यता और यह उन पाँच हज़ार वर्षों से शक्तिशाली होता आ रहा है, जिनमें पश्चिमी एशिया की प्राचीनतम सभ्यताओं का उदय होता रहा है।

ढाई हज़ार वर्ष पूर्व श्रेष्ठतर धर्मों में से सबसे प्राचीन धर्म के प्रकाश में आने पर इस एकता-आन्दोलन को बड़ा बल मिला। इस प्रकार के क्रांतिकारी धर्मों का सर्वोत्तम ध्येय मानव-प्राणियों को पारमार्थिक सत्ता के साथ सीधे सम्पर्क में लाना और उसके साथ तदाकार होने में उनकी सहायता करना रहा है। लेकिन अपने इस लोकोत्तर ध्येय को प्राप्त करने में इन धर्मों ने मानवों के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित संगठनों से भी संयोगवश अपना सम्बन्ध बनाये रखा। जब एक धर्म

ने मानव को निरवच्छिन्न आध्यात्मिक वास्तविकता के साथ सीधे सम्पर्क में लाने की घोषणा कर दी, तब वह अपने को एक स्थानीय समाज के चौखटे में कसा नहीं रख सकता। उसे समस्त विश्व के मानव-प्राणियों का स्वयं आह्वान करना ही होगा, उसे अपने विश्वव्यापी आध्यात्मिक सेवा-कार्य के लिए अपनी नवीन पद्धतियाँ और संस्थाएँ स्थापित करनी ही होंगी।

विश्वव्यापी स्तर की सबसे पहली संस्थाएँ प्रचारात्मक धर्मों के सेवा भावी संगठन रहे हैं। मानव-जाति का सामूहिक रूप में आह्वान करने के सबसे पहले प्रयोग इन्हीं धार्मिक प्रचारकों के द्वारा किए गए हैं। धर्म-प्रचारकों द्वारा आविष्कृत प्रचार-प्रणालियाँ राजनीतिज्ञों और व्यापारियों ने हथिया ली हैं और वे अपेक्षाकृत कम ऊँचे उद्देश्य के लिए घृणित बना दी गई हैं। लेकिन जैसा कि स्वयं प्रोपैगैण्डा (प्रचार) शब्द से स्पष्ट है, यह एक धार्मिक आविष्कार है। वस्तुतः यह रोमन कैथोलिक ईसाई चर्च की उस प्रचारात्मक संस्था की देन है जो रोम में स्थायी धर्म का प्रचार करती थी और जिसका ध्येय समस्त विश्व में रोमन कैथोलिक ईसाई मत का प्रसार करना था। जैसा कि हम जानते हैं, प्रचार की कला का दुरुपयोग हो सकता है और हुआ भी है। ऐसा उन धार्मिक आविष्कारकों और धर्मनिरपेक्ष प्रचारकों द्वारा हुआ है, जिन्होंने अपने निजी स्वार्थों की सिद्धि के लिए इन कलाओं का अपहरण कर लिया है। इतना होते हुए भी प्रजातन्त्र के युग में जनता का आह्वान करने की कला विश्व-समाज के संगठनात्मक यन्त्र का एक अपरिहार्य अंग है। चूँकि जनतांत्रिक आधार पर विश्व-समाज के निर्माण का कार्य हमारी पीढ़ी के कन्धों पर आ पड़ा है, इसलिए हमारा बड़ा सौभाग्य है कि हमारे समक्ष लगभग ढाई हज़ार वर्षों से चले आने वाले प्रचार-कार्य के सदुपयोग का सामूहिक अनुभव विद्यमान है।

हम इस सम्बन्ध में भी सौभाग्यशाली हैं कि हम समस्त मानव-जाति को एक करने के अनुष्ठान में रत रहने वाली पहली पीढ़ी के नहीं हैं। श्रेष्ठतर धर्मों के प्रचारकों ने जागरूक होकर इस ध्येय का अनुसरण किया था। इन धर्मों में से कम-से-कम तीन—बौद्ध, ईसाई और इस्लाम—में से हर एक ने अपने समक्ष समस्त मानव-जाति को अपने अन्तर्गत लाने का ध्येय रखा है। अब तक उनमें से कोई इस ध्येय को प्राप्त करने में सफल नहीं हुआ है। इस तथ्य से कि ये तीनों धर्म सह-अस्तित्व में हैं, आज उस दूरी की हद का अनुमान लगाया जा सकता है, जिस हद तक इनमें से हर एक अपने सामान्य कार्यक्रम को पूरा करने में असमर्थ रहा है। समस्त विश्व को अपने में न मिला पाते हुए भी इनमें से हर एक

अपने को अनेक महाद्वीपों में फैलाने में सफल रहा है । विशेष रूप से जब हम यह विचार करते हैं कि यह विज्ञान द्वारा दूरी का विनाश होने से बहुत पहले की बात है, तो यह सफलता असाधारण प्रतीत होती है । जड़ प्रकृति की शक्तियों का उपयोग करने में जो सफलता हमें पहले ही प्राप्त हो चुकी है, उसने विश्व को एक करने के हमारे वर्तमान प्रयत्नों में भयावह भौतिक संकट उत्पन्न करने के अतिरिक्त हमें शक्तिशाली भौतिक अस्त्र भी दिए हैं। श्रेष्ठतर धर्मों के प्रचारकों के पास जहाज़रानी में प्रयुक्त वायु-शक्ति को छोड़ कर कोई दूसरी प्राकृतिक शक्ति नहीं थी । भूमि पर उनको मनुष्यों की माँस-पेशियों की शक्ति एवं पालतू जानवरों पर निर्भर रहना पड़ता था । फिर भी वे यातायात के इन प्रारम्भिक साधनों से ही धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक अपने संदेश ले जाने में सफल हुए ।

यातायात तथा संचार के वर्तमान साधनों के स्वामी न होते हुए भी इन श्रेष्ठ धर्मों ने समस्त मानव-जाति को अपने में दीक्षित करने के साहसिक कार्य का प्रारम्भ करने में पर्याप्त प्रोत्साहन पाने का सौभाग्य भी प्राप्त किया । यह सौभाग्य उन्हें उन पूर्व-स्थापित भिन्न प्रकार की संस्थाओं द्वारा मिला जिन्हें विश्व-साम्राज्य कहा जाता था। जैसे ये प्रचारात्मक धर्म विश्वव्यापी न थे वैसे ही वे कथित विश्व-साम्राज्य भी विश्वव्यापी न थे। विश्व-साम्राज्य यथार्थ में विश्व साम्राज्य तो नहीं थे, पर उन्होंने बहुत बड़े क्षेत्र में शांति और सुव्यवस्था स्थापित की और कुछ मामलों में उन्होंने यह कार्य अनैक्य एवं अराजकता का शिकार हुए बिना, कई शताब्दियों तक किया। जल और स्थल मार्गों को सुरक्षित करने के साथ-साथ उन्होंने अपने राज्य के समुद्री यातायात के लिए बन्दरगाह बना कर तथा सड़कों पर पुलों, विश्राम-गृहों और डाक घोड़ों की व्यवस्था कर उनका पर्याप्त विकास किया।

अपने प्रचार-कार्य की एक सीढ़ी पर पहुँच कर प्रत्येक श्रेष्ठतर धर्म एक या दूसरे विश्व-साम्राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का लाभ उठाने में समर्थ हो गया था। ईसाई धर्म ने रोमन-साम्राज्य की सुविधाओं को इतना मूल्यवान पाया कि प्राक्-कान्स्टेन्टाइन युग में भी, जबकि ईसाई धर्म को उपेक्षित समझा जा रहा था और रोमन शासकों द्वारा कुचला जा रहा था, ईसाई धर्म-वेत्ताओं ने अनुमान लगाया कि ईश्वर ने अपनी सर्वव्यापी सत्ता का प्रयोग करने के लिए ही कदाचित फिलिस्तीन में, ईसा के जन्म के अवसर पर होने वाली रोमन शांति के अन्तर्गत, भूमध्यसागरीय देशों को राजनैतिक दृष्टि से एक देखने की इच्छा प्रकट की है। स्वयं रोमन अधिकारियों ने जो चित्र देखा था वह वास्तव में ऐसा नहीं था। रोम एवं

विश्व के अन्य साम्राज्यों ने जो सुविधाएँ दीं वे अपने काम के लिए दी थीं। उन्होंने प्रचारात्मक धर्मों के प्रचार के लिए ये सुविधाएँ नहीं दी थीं। वस्तुतः जब प्रचारात्मक धर्मों की हलचलों की ओर उनका ध्यान गया, तब वे उनको एक साथ भयभीत करने और कुचलने को उद्यत हुए। पारस्परिक तनाव के प्राक्-कान्स्टेन्टाइन युग में ईसाई धर्म के प्रति रोम साम्राज्य की यही नीति थी। यहाँ तक कि खलीफा शासन, जो मुसलमानों द्वारा निर्मित एवं प्रस्तुत किया गया था, अपनी प्रजा के अतिरिक्त कर-प्रदाता मुस्लिमेतर बहुसंख्यकों को भी इस्लामानुयायी बनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने का अभिलाषी न था। उसने धर्म-परिवर्तन करने वालों की अपेक्षा अतिरिक्त कर-प्रदाताओं को श्रेयस्कर माना। पारसी धर्म और यहूदी धर्म के प्रति ईरानी साम्राज्यों का दृष्टिकोण अधिक उदार था। कम-से-कम तीन विश्व-शासक—अशोक, कनिष्क और कान्स्टेन्टाइन—ऐसे हैं जिनमें से हर एक ने एक-एक विश्व-धर्म का उत्साही संरक्षक बन कर और उसके समर्थन के लिए अपने साम्राज्य के साधनों को सजगता से जुटा कर अक्षय कीर्त्ति अर्जित की है। अशोक ने मौर्य साम्राज्य को थेरवादी बौद्ध धर्म की सेवा में लगाया, कनिष्क के कुशान साम्राज्य को महायान बौद्ध धर्म की सेवा में लगाया और कान्स्टेन्टाइन ने रोम साम्राज्य को ईसाई धर्म की सेवा में लगाया।

इस प्रकार कुछ मामलों में विश्व-साम्राज्यों द्वारा विश्व-धर्म के उद्देश्यों को गति देने का कार्य कुछ क्षेत्रों में अनजाने और कुछ क्षेत्रों में जानबूझ कर हुआ, लेकिन ये दो प्रकार की संस्थाएँ हर दशा में स्वाभाविक साझेदार रहीं क्योंकि उनकी महत्त्वपूर्ण बातें एक समान थीं। समस्त मानव-जाति को एक विश्वव्यापी परिवार के रूप में संगठित करने के प्रयत्न में विश्व-धर्म और विश्व-साम्राज्य समान हैं, यद्यपि उनके स्तर भिन्न रहे हैं। वे एक संकट की प्रतिक्रिया होने की दृष्टि से और उसके दुष्परिणामों को दूर करने के रचनात्मक प्रयत्नों की दृष्टि से एक-जैसे रहे हैं।

प्रारम्भिक प्रादेशिक सभ्यताओं का अकाल ह्रास ही यह पूर्वगामी संकट था। इस अकाल ह्रास का कारण यह गृह-कलह और इस गृह-कलह का कारण अनैक्य रहा है। हमारी आज की सभ्यता की भाँति ये प्रारम्भिक सभ्यतायें राजनीति पर आधारित थीं और स्वशासित स्थानीय राज्यों में बँटी थीं। ये राज्य परस्पर युद्ध करने में स्वतन्त्र थे और जिन युद्धों में ये अपने-अपने स्थानीय स्वार्थों के कारण अवश्यम्भावी टक्करों के शिकार हुए वे इनके लिए

क्रमशः और भी घातक सिद्ध होते गये । भौतिक की अपेक्षा नैतिक क्षति और भी अधिक थी और उसकी पूर्ति कठिन थी । विश्व-साम्राज्यों ने इस बुराई का अन्त करने के लिए जो उपाय अपनाए, वे वैसे ही स्तर के थे जैसा कि बुराई के उद्गम का स्तर था । साम्राज्यों ने इन उपद्रवी स्थानीय राज्यों को या तो नष्ट कर दिया या अन्तर्राज्यीय युद्धों के अवशेष के रूप में किसी साम्राज्य के अधीन कर उन पर शांति थोप दी । विश्व-धर्मों द्वारा खोजा गया उपाय इस स्थिति के सबसे निकट था। विश्व-धर्म के संस्थापकों एवं प्रचारकों ने देखा कि विनाशक अन्तर्राज्यीय युद्धों के राजनैतिक कारणों में भी एक नैतिक उद्गम निहित है, इसलिए इसका कारगर उपचार नैतिक आधार पर ही हो सकता है। जो उपचार उन्होंने सोचा था वह था नर और नारी को पारमार्थिक सत्ता के सीधे सम्पर्क में आने और उससे तदाकार होने में व्यक्तिगत रूप से सहायता देना । मेरा विचार है कि यह आध्यात्मिक खोज सभी श्रेष्ठतर धर्मों में समान है, यद्यपि जैसा कि हम जानते हैं, वे अन्तिम वास्तविकता-सम्बन्धी दृष्टिकोण और आचार-विचार में एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं, बहुत भिन्न रहे।

मैंने पहले ही यह बात कह दी है कि आज तक कभी कोई विश्व-धर्म या विश्व-साम्राज्य मानव-जाति की समस्त जीवित पीढ़ी को समाहित कर वास्तविक अर्थ में विश्व-परिवार का स्वप्न चरितार्थ नहीं कर पाया । आज जबकि विज्ञान दूरी के विनाश में सफल हो चुका है, विश्वव्यापी परिवार पहली बार अपने वास्तविक अर्थ में एक क्रियात्मक सम्भावना—और एक तात्कालिक आवश्यकता भी—हो गया है । हमारी आज की स्थिति में विश्वव्यापी स्तर पर स्थापित एकता ही मानव-जाति को आत्म-विनाश से बचा सकती है । हमारे सामने आज जो कार्य है, वह जितना कठिन है उतना ही आवश्यक भी । बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम अपने पूर्वजों के अनुभव से शिक्षा लें और उसे आचरण में लावें।

मेरी समझ में एक शिक्षा तो स्पष्ट है । वह यह कि अतीतकाल में सभी विश्व-साम्राज्य स्थापित करने वालों ने जिस सैनिक पद्धति का प्रयोग किया, उससे परमाणु युग में किसी भी प्रकार से विश्व-एकता स्थापित नहीं की जा सकती । यहाँ तक कि धनुष-बाण से लड़े जाने वाले युद्धों के युग में भी युद्ध और विजय के माध्यम से विश्व को राजनैतिक रूप से एक करने का नैतिक और भौतिक मूल्य इतना अधिक था कि चुकाया नहीं जा सकता । विश्वव्यापी साम्राज्य से निम्न स्तर के साम्राज्यों ने भी जब कभी राजनैतिक एकता थोपने के लिए इस बर्बर पद्धति का आश्रय लिया, तब इस पद्धति के शिकार समाज

को अमिट क्षति उठानी पड़ी । यह स्वतः सिद्ध है कि परमाणु युग में मानव-जाति को यदि बलात् एकता के सूत्र में आबद्ध करने का प्रयत्न किया गया, तो एकता के स्थान पर आत्म-विनाश देखना पड़ेगा । इसलिए आज एकता के लिए उपयोगी मार्ग—और वह भी दूसरों के बीच राजनैतिक स्तर पर—धर्मों के द्वारा आविष्कृत समझाने-बुझाने का मार्ग है । ऐसे युग में, जबकि हमारे राजनैतिक आदर्श प्रजातांत्रिक हैं और समाज विशाल है, समझाने-बुझाने का मार्ग जनाह्वान अर्थात् प्रचार की कला को अपनायेगा । हमें यह सावधानी रखनी पड़ेगी कि जिस पद्धति का निरन्तर दुरुपयोग होता आया है, उसका सदुपयोग किया जा सके। लेकिन परमाणु युद्ध के संकट को मोल लेने की तुलना में अनुचित प्रचार का संकट बहुत छोटा है।

यद्यपि सभी विश्व-धर्म और विश्व-साम्राज्य वास्तविक अर्थ में विश्वव्यापी होने से बहुत दूर रहे हैं, तथापि उनमें से हर एक अपने अनुयायियों अथवा अधीन रहने वालों के लिए विश्वव्यापी दिखने और अनुभव होने के आन्तरिक अर्थ में समस्त विश्व के साथ संलग्न रहा है । उदाहरणार्थ हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म और ईसाई धर्म क्रमशः प्रत्येक हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और ईसाई के लिए विश्व-धर्म रहा है, यद्यपि इन्हीं चारों धर्मों का वास्तव में सह-अस्तित्व रहा है । इसी प्रकार एक समय जब रोम साम्राज्य अपनी प्रजा के लिए 'मानवों से बसा हुआ समस्त संसार' का आभास देता था, तब चीनी साम्राज्य अपनी प्रजा के लिए 'आकाश के नीचे जो कुछ है उस सबका' द्योतक था । ये दोनों ही साम्राज्य केवल उनके प्रतिपादकों या अधीन लोगों की दृष्टि में विश्व-राज्य थे, यद्यपि पृथ्वी-तल पर वे एक-दूसरे के समकालीन थे। उनमें से प्रत्येक अपने को विश्वव्यापी समझता था, पर वे दोनों ढाई सौ वर्षों तक यदा-कदा के हलके संस्पर्श को छोड़ कर बिना निकट सम्पर्क में आये अपने अस्तित्व को बनाए रहे । फिर भी जिस विश्व-समाज ने विश्व-साम्राज्यों की प्रजा और विश्व-धर्मों के अनुयायियों के लाभ के लिए इतना महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसके सदस्य होने की आन्तरिक भावना का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना हमारे लिए बड़ा उपयोगी होगा । भविष्य में संगठित मानव-परिवार का सदस्य होने पर हमें कैसा लगेगा, इसका रसानुभव हम आज भी कर सकते हैं। भविष्य की स्थिति का यह अनुमान हमारे लिए व्यावहारिक लाभ का है । यदि हमें कभी सचमुच विश्वव्यापी संघ बनाने में सफलता मिल गई, तो उससे हमारी कुछ समस्याएँ अवश्य हल हो जायेंगी । लेकिन यह भी निश्चित है कि उनके हल होने पर कुछ और समस्याएँ

भी उठ खड़ी होंगी। हमारे पूर्वजों के अनुभव से इन पर कुछ मूल्यवान प्रकाश पड़ सकता है।

विश्व-साम्राज्य और विश्व-धर्म एक के बाद एक पुरातन प्रादेशिक सभ्यताओं के घातक दुष्प्रयोग से मानव-जाति को बचाने की चेष्टा में रत रहे हैं। सामाजिक विनाश की ये भावी औषधियां मानव-जाति को संगठित करने की दिशा के मार्ग-दर्शक स्तम्भ हैं, लेकिन सभ्यता के पतन ने मानव-जाति को एकता की ओर नहीं बढ़ाया वरन् सभ्यता का वह पूर्वगामी उत्थान ही सम्मिलन की दिशा में पहला कदम था, जिसे इन सभ्यताओं के बाद के पतन ने और गति दी थी।

मेरी सम्मति में यह कहना सत्य ही है कि सभ्यता के प्रारम्भ से मानव-जाति को स्वयं जिन भयानक संकटों का सामना करना पड़ा है, उनका प्रमुख कारण अनैक्य है। इस अनैक्य का कारण रहा स्थानीय स्वार्थों से हमारा अटूट लगाव—स्थानीय समाजों के प्रति हमारी अनवरत आस्था। आज जब कि एकता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक आवश्यक हो गई है, इस प्रकार का मोह एकता के मार्ग में मुख्य बाधा है। ये अनन्त स्थानीय लगाव उन स्थितियों के दुर्दमनीय एवं घातक अवशेष हैं, जिनमें पाँच हज़ार वर्ष पूर्व की प्राचीनतम सभ्यता के उदय के ठीक पहले के युग में मानव-जाति का अपेक्षाकृत अधिक विकसित अंश जी रहा था।

मानव-जीवन के आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अब तक सबसे बड़ी क्रांति कृषि का आविष्कार है और कृषि के अभ्यास ने एक स्त्री को झोंपड़ी के आँगन तथा एक पुरुष को धान के खेत से बाँधने में बड़ा काम किया है। आज के कारखानों के मज़दूरों की भाँति प्राक्-कृषि युग में खाद्य-संग्राहक एवं शिकारी स्थानीय लगावों से अपेक्षाकृत मुक्त थे। किसान इन दोनों से भिन्न अपने व्यवसाय की प्रकृति के कारण स्थितिशील है। जैसा कि आप जानते हैं, स्थानीय ग्राम-समाज ही उसका संसार है। उसका क्षितिज उसकी संकुचित सीमाओं से निर्मित है। प्राचीन सभ्यताओं के युग के सभी स्थानीय समाज ग्राम-समाज ही रहे हैं। उनकी नागरिक भावना सदैव ग्राम-सम्बन्धी भावना रही है, यहाँ तक कि यह उत्तरकालीन ग्राम-समाज, वर्तमान भारत, चीन, सोवियत संघ और संयुक्त राष्ट्र के रूप में परिवर्तित हो गए हैं।

सभ्यता इन स्थानीय मूलों को उखाड़ने का आन्दोलन रही है और इस प्रकार उसने मानव-प्राणियों को सम्भावित संघ की प्राप्ति के लिए मुक्त कर दिया

है—संघ भी ऐसा जो विनष्ट न हो सके और समस्त मानव-जाति को समाहित किए बिना न रह सके। राबर्ट रेडफील्ड नामक एक अमरीकन नृतत्त्वशास्त्र-वेत्ता ने घोषणा की है कि 'सभ्यता जाति-विहीनता का नाम है।' और यह निश्चित रूप से सत्य है। कृषक वर्ग के लिए मूलोत्पादित होने की दिशा में जो पहला कदम उठाया गया था, वह प्राचीनतम नगर की स्थापना का था। मेरा अभिप्राय जोर्डन घाटी के जैरीको नगर से है। तबसे लेकर आज तक शहरी बनने की ध्वंसात्मक प्रक्रिया इस सीमा तक पहुँच गई है कि पृथ्वी का बसने योग्य सारा धरातल एक सम्बद्ध नगर बन रहा है। यद्यपि विश्व का कृषक वर्ग आज भी संख्या की दृष्टि से विभिन्न व्यावसायिक वर्गों से कहीं अधिक बड़ा है, तथापि आज का किसान इस युग का मज़दूर नहीं रहा है। इस क्षेत्र में किसान का स्थान कारखाने में मशीन पर काम करने वाले श्रमिक ने ले लिया है और आज का विशेष मज़दूर जड़ मशीन-चालक वह पुरुष या स्त्री नहीं है जो एक कारखाने में स्थित मशीन की देखभाल करता है वरन् यह सम्मान अब थल, जल या वायु में चलने वाले यांत्रिक यान-चालक के ढंग के कार्यकर्ता को प्राप्त है। इस प्रकार कृषि के आविष्कार के फलस्वरूप मानव-जाति अस्थायी रूप से स्थितिशील होने के बाद एक बार फिर गतिशील हो रही है। यह गति विश्व-एकता की ओर है। हम इस लक्ष्य की ओर आज से कम-से-कम पांच हज़ार वर्षों से बढ़ रहे हैं, तब भी हमारी सामाजिक मनोवृत्ति आज भी नव-पाषाण युग की है। आज भी हमारा व्यवहार ऐसा है, जैसे कि हम एक दूसरे से पृथक् और कृषि पर आश्रित ग्राम समाजों के निवासी हों।

आत्मकेन्द्रित होने की स्वाभाविक मानवीय कमज़ोरी के बाद नव-पाषाण युग-कालीन आसक्ति का यह अवांछनीय रूप मेरी सम्मति में सभ्यताओं के युग के महान संकटों का मुख्य कारण है। अब चूंकि हम परमाणु युग में आ गए हैं, अनुभव करने और विचार करने की यह पद्धति अत्यन्त घातक हो गई है। अब मानव-जाति को संघ या आत्म-विनाश में से एक को चुनना है। हमारा अस्तित्व रहे या न रहे, इस प्रश्न के उत्तर देने का जो गम्भीर निश्चय हम करना चाहते हैं, उसे और अधिक स्थगित नहीं किया जा सकता।

विश्व-एकता को भारत की देन

इस तृतीय और अन्तिम व्याख्यान में मेरा विषय एक विदेशी के लिए बड़ा नाजुक है । मुझे इस पर प्रकाश डालने का प्रयास करना है क्योंकि यह मेरे सामान्य विषय का एक अपरिहार्य अंग है। लेकिन आज मैं अपने को कुछ भयभीत-सा अनुभव करता रहूँगा । जिन बातों को मेरे श्रोता आन्तरिक रूप से जानते और समझते हैं, उन पर मैं बाह्य दृष्टि से विचार करूँगा । ये वे बातें हैं जो आपके व्यक्तिगत और राष्ट्रीय अनुभव का अंग हैं । इनमें से कुछ बातें महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही विवादास्पद भी हैं, इसलिए वे ऐसी हैं जो भावनाओं को झकझोरती हैं । इसलिए आज मैं अपने श्रोताओं से कुछ कहते हुए विशेष रूप से पहले से भी अधिक घबराहट का अनुभव कर रहा हूँ।

मैं तीन बातों को लेना चाहता हूँ। मैं समझता हूँ कि वे तीनों स्पष्ट हैं, लेकिन वास्तव में इससे वे स्वयं नगण्य नहीं बन जातीं । पहली बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि जब से इराक में सभ्यता का जन्म हुआ और जब से वह पश्चिम में फैलने लगी, तब से आज तक विश्व में भारत की स्थिति महत्त्वपूर्ण रही है। मेरी दूसरी बात यह है कि भारत वर्तमान विश्व का एक लघु रूप है । समस्त मानव-जाति के समक्ष आज जो मुख्य-मुख्य समस्याएं हैं, वे प्रत्यक्षतः प्रमुख रूप से भारत में भी विद्यमान हैं। भारतीय जनता और भारतीय सरकार द्वारा अपनी राष्ट्रीय समस्याओं की भाँति ही उनका भी सामना किया जा रहा है। मेरी तीसरी बात यह है कि भारत के पास जीवन का ऐसा दृष्टिकोण और व्यक्ति की समस्याओं के समाधान की ऐसी विधि है जो वर्तमान स्थिति से उत्पन्न आवश्यकताओं की पूर्त्ति का आश्वासन देती है और वह भी न केवल भारत में वरन् समस्त विश्व में । मैं इन बातों को एक-एक करके लूंगा ।

भारत की स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि उसे समझने के लिए संकेत भर यथेष्ट है । तथ्य अपनी कहानी स्वयं कहते हैं, अतः उनकी व्याख्या करना ही अपेक्षित है। उनको प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं । भारत भू-भागीय सभ्यताओं की उस शृंखला के बीच की कड़ी है जो सुदूर उत्तर-पूर्व में जापान से सुदूर उत्तर-पश्चिम में आयरलैंड तक चली जाती है। इन दो चरम बिन्दुओं के बीच तोरण के मध्य भाग की भाँति दक्षिण की ओर झुकी हुई यह शृंखला भू-मध्य-रेखा के नीचे

इंडोनेशिया में डूब जाती है। प्राचीन विश्व-सभ्यताओं की यह अपेक्षाकृत अधिक पुरातन शृंखला प्राचीन ग्रीक भाषा में अपना निजी नाम रखती है। ग्रीक इसे 'ओइकुमेने' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है विश्व का बसा हुआ भाग। वे शनैः-शनैः इसके विस्तार से परिचित हो गए थे। ईसा की दूसरी शताब्दी के ऐलेक्ज़ेन्ड्रियन ग्रीक भूगोलवेत्ता प्टोल्मी के काल से 'ओइकुमेने' ने अपना क्षेत्र बहुत बढ़ा लिया था। उसने रूस, उत्तरी यूरोप, अमेरिका, ऊष्ण अफ्रीका और न्यूज़ीलैण्ड को अपने अन्तर्गत कर लिया था। आज वह पृथ्वीतल के बसने और यात्रा करने योग्य समस्त भाग को घेरे है। वह आधुनिक वैज्ञानिक सीमाओं के भीतर आ जाने वाले लगभग समस्त धरातल को समाहित कर लेती है। लेकिन इन परिवर्तनों के बीच भी भारत ने अपनी उसी केन्द्रीय स्थिति को बनाए रखा है, जो पूर्व में चीन और पश्चिम में यूरोप की सभ्यता के विकास के समय थी।

भारत की स्थिति केवल भौगोलिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण के लिए आज अधिकांश लोगों ने यह स्वीकार कर लिया है कि प्रतिद्वन्द्वी विचार-धाराओं की विश्वव्यापी प्रतियोगिता में भारत ही संतुलन बनाये हुए है। यदि आज एशिया में प्रजातांत्रिक संसदीय पद्धति का प्रभाव है, तो केवल इसीलिए कि भारत ने इस प्रकार के राजनैतिक जीवन-क्रम को अपना लिया है। यदि भारत इससे हटने की सोचता है तो उसका प्रभाव केवल भारत पर ही नहीं, वरन् हिन्द महासागर के तटों के सब ओर तथा एशिया एवं अफ्रीका के मध्य भाग पर भी पड़ेगा। जो कुछ भी हो, मनुष्य के कार्य-व्यापार में राजनीति बहुत ही सतही चीज़ है। इसके विपरीत धर्म कहीं गहरे जाता है और धर्म के स्तर पर भारत लेने वाला नहीं देने वाला ही रहा है। आज जो श्रेष्ठ धर्म हैं, उनमें से लगभग आधे भारत में जन्मे हैं। मानव-जाति का लगभग आधा भाग या तो हिन्दू धर्म को मानता है या बौद्ध धर्म को।

अर्थ-शास्त्र के नितान्त भिन्न क्षेत्र में भी भारत विश्व-इतिहास की एक बड़ी शक्ति रहा है। दारा प्रथम के जन्म के बाद के पारसी साम्राज्य, ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में सिन्धु घाटी और मिश्र के बीच समुद्री मार्ग के खुलने के बाद के ग्रीक-रोमन जगत, वेनिस के उदय के पश्चात के मध्यकालीन ईसाई संसार और कालीकट में वास्कोडिगामा के पदार्पण के बाद के आधुनिक पश्चिमी जगत के आर्थिक इतिहास पर विचार कीजिए तो आपको पता चलेगा कि इनमें से प्रत्येक की कहानी आपकी समझ में तब आती है जबकि आप भारत को भी इनके साथ मिलाकर देखें। जहाँ तक राजनैतिक क्षेत्र का प्रश्न है,

भारत इन साम्राज्यों में से चार से कम की क्रीड़ा-भूमि रहा है। इस दृष्टि से विचार करने पर आज वह सच्चे अर्थों में एक विश्व-राज्य के लिए प्रयोगात्मक ढाँचे के रूप में स्वीकृत किया जायेगा। इनमें से दो साम्राज्य मौर्य और गुप्त तो पूर्णरूपेण भारतीय हाथों से निर्मित और जीवित थे। यदि मुगल साम्राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य के अभारतीय जन्मदाता एक विशाल पैमाने पर अपने भारतीय सहयोगियों की सहायता प्राप्त न कर पाते तो वे भी न तो निर्मित होते और न जीवित रहते।

अब मैं अपने समय की कुछ ऐसी विश्वव्यापी समस्याओं पर प्रकाश डालूंगा, जिनका सामना अन्य देशों के साथ भारत को भी करना पड़ रहा है और जिनको वह भारतीय ढंग से हल करने की सोच रहा है। भारत के द्वारा मानव-जाति की इन समस्याओं का समाधान खोजना शेष विश्व के लिए बड़ी दिलचस्पी का विषय है क्योंकि भारतीय प्रणाली और अनुभव उन देशों के लिए पथ-प्रदर्शक हो सकते हैं जो वैसी ही समस्याओं से जूझ रहे हैं।

अपने दूसरे व्याख्यान में मैंने संस्कृति के उस कृषि-सम्बन्धी युग के—जिसे पुरातत्ववेत्ताओं ने नव-पाषाण युग कहा है—विषय में कुछ बताया था, जिसके तत्काल बाद दक्षिण-पूर्वी एशिया के 'उर्वर वक्रचन्द'[1] में सबसे प्राचीन सभ्यताओं का उदय हुआ था। जब संस्कृति को एक नया धरातल प्राप्त हुआ तो उससे पूर्व के धरातल का विलोप नहीं हुआ। नए धरातल ने अपने को पुराने पर लाद दिया और उस पुराने धरातल का अस्तित्व बना रहा। यह नया धरातल तो उस पर जम गया, पर उसने पुरातन को नष्ट नहीं किया। विगत पाँच हजार वर्षों की सभ्यता नव-पाषाण युग के किसानों के कन्धों पर टिकी रही है। इसने उस वर्ग पर इतना भारी बोझ डाला है, जितना कि उसी वर्ग के श्रम द्वारा निर्मित पिरामिडों ने उस धरती माता—उस देवी पर डाला है, जिसे उसी श्रमरत वर्ग ने अपने कृषि तथा श्रम से इतना उर्वर बनाया है। इन पाँच हजार वर्षों में कृषक समुदाय इस बात का अभ्यस्त हो गया है और इसे अंगीकार कर चुका है कि उसे एक ऐसी सभ्यता के शहरी शासकों की अल्पसंख्या के लिए दैनिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साधन जुटाने हैं, जिसमें उत्पादक कृषक वर्ग का कोई भाग नहीं है। विश्व का कृषक वर्ग लगभग भूखों मरने की दशा में जीवित रहा है, जब कि उसके उत्पादन के अतिरिक्त अंश को एक के बाद दूसरी

१—'फर्टाइल क्रीसेण्ट' के स्थान पर यह शब्द रखा गया है। अभिप्राय है वक्र चन्द्रमा की आकृति का उपजाऊ प्रदेश। —अनुवादक

सभ्यता के निर्माण तथा विनाश के लिए हड़पा जाता रहा है। सभ्यताओं के युग में कृषक वर्ग को जो निराशाजनक अनुभव हुए हैं, उन्होंने उसे उदासीन और निष्क्रिय बना दिया है। उन्हें जो कठोर जीवन बिताना पड़ता है, उसको अपने प्रयत्नों से बदल कर वे कुछ अच्छा जीवन जी सकते हैं, इस बात की सम्भावना पर विचार किए बिना ही वे उसको अपने उसी कठोर रूप में जीना सीख गए हैं।

कदाचित कुछ दिन पूर्व तक कृषकों की निष्क्रियता वास्तविकता के अनुरूप थी। जिस सभ्यता ने उन्हें एक दुःस्वप्न की तरह दबा रखा था वह अन्ततोगत्वा परोपजीवी रहने के बजाय आर्थिक दृष्टि से उत्पादक तभी हुई जब दो सौ वर्ष पूर्व घटित औद्योगिक क्रांति सामने आई। तकनीकी विकास बीच-बीच में गतिरोध के लम्बे-लम्बे व्यवधानों के पश्चात झटके के साथ हुआ है। पहला झटका तो तब लगा था जब हमारे किसी अर्द्धमानव या प्राक्-अर्द्धमानव पूर्वज ने पत्थर को तराशकर उसे प्राचीनतम औज़ार का रूप दिया था। दूसरा झटका कृषि का आविष्कार था, जिसने पशु-पालन प्रथा के साथ नव-पाषाण युगीन संस्कृति को जन्म दिया। तदन्तर आविष्कारों की वह दूसरी बाढ़ आई, जिसने प्राचीन विश्व को संकट की सूचना दी। उदाहरणार्थ पहिया, पाल, हल और धातु-उद्योग के नाम लिये जा सकते हैं। लेकिन सभ्यता के बाद का अभ्युदय न तो तकनीकी क्रांति के रूप में था और न वह तकनीकी क्रांति के पीछे-पीछे आया था। वस्तुतः वह क्रांति तो था और वह भी बहुत विराट किन्तु उसने मानव जीवन-क्रम में जो नवीनतायें प्रस्तुत कीं, वह तकनीकी क्षेत्र में न होकर सामाजिक और राजनैतिक संगठन के क्षेत्र में थीं।

सभ्यता की सबसे बड़ी राजनैतिक चाल अपने किसानों की पैदावार के उस अतिरिक्त अंश को हथियाना था, जो किसानों के पास अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण के पश्चात बच रहता था। सभ्यता ने इस हथियाये हुए अतिरिक्त अंश का उपयोग विशेषाधिकार-प्राप्त अल्पसंख्यक लोगों की रक्षा के लिए किया। इन अल्पसंख्यक लोगों को यह विशेषाधिकार प्राप्त था कि वे खाद्य-उत्पादन, वस्तु-निर्माण और व्यापार-जैसे उन दैनिक सामान्य कार्यों में हाथ बँटाने से मुक्त रहें, जिनमें शेष जनता पूरे समय लगी रहती थी। इस प्रकार इस अल्पसंख्या को दूसरे काम करने का अवकाश दे दिया गया। इनमें से भी जिस अल्पसंख्या ने अपने अवकाश के समय को सृजनात्मक कार्यों में लगाने की सोची, उन्हें आज तक सभ्यता के विकास का श्रेय दिया जाता है जबकि इन्हीं की साथी विशाल

जनता को सभ्यता के अपराधों और मूर्खताओं का दोषी ठहराया जाता है। जो कुछ भी हो, ध्यान देने योग्य बात यह है कि सभ्यताओं के युग में विशेषाधिकार-प्राप्त अल्पसंख्यकों में भी जिन्होंने सृजनात्मक कार्य किए उन्होंने लगभग पाँच हज़ार वर्ष तक तकनीकी प्रगति को रोके रखा। उन पाँच हज़ार वर्षों में अवकाश की सुविधा प्राप्त अल्पसंख्यकों के हृदय और मस्तिष्क दूसरी वस्तुओं पर जमे थे, जैसे वास्तु-कला, दृश्य-कलाएँ, काव्य, ज्योतिष, युद्ध और सम्पन्न लोगों का वैभव-पूर्ण जीवन। मिश्र के पिरामिड और आगरा, पेकिंग एवं वर्साई के महल शासक-अल्पसंख्यकों की भावनाओं के राजनैतिक स्मारक हैं, जबकि उनकी धार्मिक प्रेरणाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं अंगकोरवाट, बोरोबुदुर, पेकिंग की स्वर्ग वेदिका एवं मंदिर, दोरम एवं शार्त्र के गिरजाघर तथा एथेंस के एक्रोपोलिस-स्थित भव्य भवन (यद्यपि इनमें से अन्तिम एथेंस के उन मित्र-राज्यों से कर के रूप में वसूल किए गए रुपयों से बनाए गए थे जिन्हें एथेंस ने अन्यायपूर्वक जबर्दस्ती दास की स्थिति को पहुंचा दिया था)।

सभ्यता द्वारा अवकाश की सुविधा का सौभाग्य-प्राप्त अल्पसंख्यक वर्ग पिछले दो सौ वर्षों से ही गम्भीरतापूर्वक मशीनों की ओर ध्यान देने लगा है। यह हमारे जीवन-काल ही की बात है कि मशीनी विकास की नई लहर ने अन्त में इस बात को सम्भव बना दिया है कि सभ्यता के लिए अपेक्षित वस्तुओं का एक अच्छा भाग समस्त मानव-जाति के लिए उपलब्ध हो सके।

सामान्यतः समस्त विश्व और विशेषरूप से भारत की स्थिति यही है। विश्व के करोड़ों कृषक ग्राम-समाजों का एक बहुत बड़ा भाग भारत में निवास करता है और भारतीय जनता तथा सरकार ने कृषक वर्ग को उसका प्राप्य दिलाने का पवित्र कार्य अपने हाथों में लिया है। इससे पूर्व जब मैं भारत आया था तब मैंने बंगाल, तमिलनाड और पंजाब में सामुदायिक विकास योजनाओं की कुछ झलक पाई थी। मैं समझता हूँ कि इस कार्य का सार है कृषक वर्ग को स्वावलम्बी होने में सहायता देना। उन्हें स्वावलम्बी होने में सहायता देने का अर्थ मुख्य रूप से उनमें आशा, विश्वास, दृढ़ निश्चय और उत्साह की नई ज्योति जगाना है। मेरा विचार है कि ये ही कृषक वर्ग को जाग्रत करने वाले वे आवश्यक मानसिक गुण हैं, जिनसे वह आरम्भिक भौतिक आत्म-निर्भरता के क्षेत्र में अग्रदूत का कार्य कर सकता है। इस भौतिक उन्नति का ध्येय भविष्य में उन्हें मानसिक प्रगति की दिशा में सफलता प्राप्त करने की आवश्यक स्थिति में पहुँचाना है। भारत ने जिस कार्य को अपने हाथ में लिया है, उसकी विशालता का मुझे कुछ ध्यान है। इसमें

कोई संदेह नहीं कि इतने विशाल स्तर पर होने वाली इतनी बड़ी क्रांति में कुछ निराशाजनक विलम्ब होना और विघ्न-बाधा उपस्थित होना अनिवार्य है। साथ ही आपकी सामुदायिक विकास योजनाओं का भविष्य शेष विश्व के लिए भी बड़ी भारी दिलचस्पी और काम की वस्तु है। इस क्षेत्र में भारत जो कुछ कर रहा है, उस पर विश्व की आँखें लगी हैं, क्योंकि भारत कृषक वर्ग को स्फूर्ति द्वारा गतिशील करने का प्रयत्न कर रहा है, बल-प्रयोग द्वारा नहीं। भारत में इस कार्य की सफलता या असफलता का अर्थ समस्त विश्व में इस कार्य की सफलता या असफलता होगा। वास्तविक विश्व-समाज की स्थापना के लिए विश्व के चिरशोषित कृषक वर्ग की मुक्ति एक आवश्यक प्रारम्भिक कार्यवाही है।

जनसंख्या की समस्या भी आज की एक बड़ी विश्व-समस्या है, जो भारत की अपनी भूभागीय समस्या भी है। हमने मृत्यु-संख्या को घटाने में जो सफलता प्राप्त की है, उसके अनुपात में जनसंख्या को न घटा पाने के कारण जनसंख्या असाधारण गति से बढ़ती जा रही है। इस समस्या पर मुझे आज कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं अपने पहले व्याख्यान में इस पर विचार कर चुका हूँ। आगे मैं जो कुछ कहना आवश्यक समझता हूँ, वह यह है कि भारत सरकार ने अन्य सरकारों के सामने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसके लिए वह निश्चय ही बधाई की पात्र है। भारत सरकार ने इस समस्या का सामना निर्द्वन्द्व भाव से किया है और उससे निबटने के लिए वह क्रियात्मक कदम उठा रही है। लाखों पति-पत्नियों को इस बात के लिए राज़ी करने का प्रयत्न करना कि वे अपनी सन्तान की संख्या सीमित कर सकते हैं और उन्हें ऐसा करना चाहिए, एक भारी शैक्षणिक कार्य है। भारत सरकार अपने को अन्धविश्वासों की शिकार बनाए बिना इस कार्य को करने के लिए उद्यत है। मुझे विश्वास है कि यह उदाहरण अन्य सरकारों को भी ऐसा करने का साहस सँजोने की प्रेरणा देगा। यह एक ऐसा कार्य है, जिसके लिए संघर्ष करने में मानव-जाति को जी नहीं चुराना चाहिए।

भारत की एक और समस्या है, जो कदाचित तीन हज़ार वर्ष से अधिक समय से रही है और जो पिछले साढ़े-तीन सौ वर्षों में कुछ उत्तर-पश्चिमी यूरोप की जनता के समुद्रपार विस्तार के फलस्वरूप विश्वव्यापी बन गई है। मेरा अभिप्राय वस्तुतः वर्ण-भेद (अपार्थीड) द्वारा उत्पन्न उस सामाजिक और नैतिक समस्या से है जो पुर्तगाली शब्द 'कास्ट' और संस्कृत शब्द 'वर्ण' का ठीक पर्यायवाची है।

इस वर्ण-भेद-प्रथा का मूल स्पष्ट है। यह मानव-जाति की विभिन्न टुकड़ियों की उस पारस्परिक मुठभेड़ का परिणाम है, जो अपने मिलने के समय सांस्कृतिक

और शारीरिक दृष्टि से बहुत भिन्न थीं। एक-दूसरे से भिन्न इन जातियों का सांस्कृतिक या शारीरिक घुलन-मिलन कुछ क्षेत्रों में विजेता-विजित के रूप में हुआ तो कुछ में दूसरी जाति के लोगों को बलात् दास बनाकर अपने यहां ले आने के कारण हुआ। विजेता के रूप में घुलन-मिलन का विशिष्ट उदाहरण आर्य कहे जाने वाले उन बर्बरों की विजय-यात्रा से मिलता है जो ईसा से दो हज़ार वर्ष पर्व या कुछ बाद में इस उप-महाद्वीप के एक बड़े भाग को द्रुत गति से विजय कर चुके थे। दासों को अपने देश में लाने के कारण घुलन-मिलन का विशिष्ट उदाहरण १८६१-६५ में गृह-युद्ध के साथ समाप्त होने वाली ढाई सौ वर्ष की अवधि में संयुक्त राष्ट्र द्वारा दक्षिण-पूर्वी भाग में उपनिवेश बनाने का है। इन दोनों के विषय में और वस्तुतः अन्यों के विषय में भी, जैसा कि उदाहरण के लिए हम दक्षिण अफ्रीका को ले सकते हैं, यह कहा जा सकता है कि घुली-मिली जातियाँ उनमें से शक्तिशाली जातियों की धौंधली द्वारा अलग रहने के लिए मजबूर की गई हैं। वास्तव में शक्तिशाली होने का अर्थ संख्या या सभ्यता में बढ़-चढ़ कर होना नहीं है। संयुक्त राष्ट्र और दक्षिण अफ्रीका के कथित 'बेचारे' गोरों को शेष विश्व को यह बात मनवाना कठिन हो जायगा कि वे अपने देश के अफ्रीकी नस्ल के लोगों की अपेक्षा अधिक सभ्य हैं। लगता है कि भारत के आर्य आक्रमणकारी सिन्धु सभ्यता के उन उत्तराधिकारियों की तुलना में कम सभ्य और कम संख्या वाले रहे होंगे, जिन्हें विजेता आर्यों ने निम्न जाति के स्तर पर रख दिया था। इस उप-महाद्वीप की वर्तमान जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग आर्यों के पहले के निवासियों और आर्यों द्वारा पीड़ितों के वंशजों का होना चाहिए। उनकी शिराओं में आर्यों का बर्बर रक्त या तो कुछ बूंद होगा या बिलकुल न होगा।

मैं स्वयं दुहरी बर्बर नस्ल का हूं। मेरा परिवार इंग्लैंड के उस पूर्वी प्रदेश का रहने वाला है, जिसने पश्चिम में रोमन-साम्राज्य के पतन के बाद बर्बर जाति के आक्रमण का दुहरा घूंट पिया था। मानो इंग्लैंड का बर्बर जाति द्वारा आक्रमण विनाश के लिए पर्याप्त न समझा गया हो और रोमन-साम्राज्य के इस अभागे तथा अवहेलित टुकड़े ने डेन नामक बर्बरों का दूसरा आक्रमण सहा हो। मुझे डेन बर्बरों के दूसरे आक्रमण की उपज या परित्यक्त उच्छिष्ट कहा जा सकता है। मेरा गोत्र डेन बर्बर वंश की लम्बी कहानी कहता है। उपस्थित श्रोताओं में कोई पंजाबी मुझे अपना समानधर्मा समझेगा क्योंकि किपलिंग शायर की भाँति पंजाब भी अनेक बार आर्य भाषा-भाषी और ईरानी भाषा-भाषी बर्बर जातीय आक्रमण की लहरों में डूबा है।

आर्य और ट्यूटानिक भाषा-भाषी लोग इण्डो-यूरोपीय भाषा-भाषी विशाल समुदाय के दो ऐसे अतिवादी अंग हैं, जिन्होंने विगत तीन-चार हज़ार वर्षों में 'ओइकुमेने' पर आक्रमण किया है। क्या कारण है कि विशेष रूप से ये ही दो समूह तीव्र नस्ली चेतना वाले रहे हैं। ट्यूटनों और आर्यों के पास जब शक्ति थी तो उन्होंने अपने देश के दूसरे प्रकार के चेहरे वालों से अलग रहने और उन्हें निम्न मर्यादा देकर दबा रखने की अनुदारता क्यों दिखलाई ? हमारी एक-जैसी ट्यूटन-आर्य नस्ली चेतना हमारी मातृभाषाओं के समान उद्गम का परिणाम नहीं कही जा सकती। भाषा और राजनैतिक व्यवहार में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है। इसके अलावा और भी लोग हैं जिनकी भाषाएँ हमारी ही तरह इण्डो-यूरोपीय हैं। पर नस्ली चेतना के विषय में उनकी स्थिति हमसे अच्छी है। मैं यहाँ विशेष रूप से लैटिन भाषा-भाषियों की बात सोच रहा हूँ और उनमें भी सबसे अधिक स्पेनी तथा पुर्तगाली लोगों के विषय में। ये भी उन्हीं प्रलोभनों में फँसे थे जिनके कि ट्यूटन और आर्य शिकार हो गए थे। पुर्तगालियों ने भी हमारी तरह ऐसे विदेशी लोगों को जीता था, जो उनसे नस्ल और संस्कृति में बहुत भिन्न थे। साथ ही उन्होंने अमेरिकी अंग्रेज़ी भाषा-भाषी ट्यूटनों की भाँति अफ्रीका से दास पकड़ मँगाये थे, लेकिन उसी प्रकार की परिस्थिति में भी उन्होंने वैसा अमानवीय व्यवहार नहीं किया।

मैं व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर अपनी बात का समर्थन कर सकता हूँ। एक बार मुझे मैक्सिको विश्वविद्यालय के रेक्टर से उपाधि ग्रहण करने का गौरव मिला। मेरा विश्वास है कि उनकी शिराओं में कुछ भी यूरोपीय रक्त नहीं था, परन्तु वह एक प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानवेत्ता थे और उच्च चरित्र एवं महान् व्यक्तित्व के धनी थे। लगता था जैसे उनके प्रोफेसर उनके अधीन कार्य करने में गर्व का अनुभव करते हैं। उनमें से अधिकांश वर्णसंकर थे। सम्भव है कुछ शुद्ध यूरोपीय नस्ल के भी हों, लेकिन प्रोफेसरों और रेक्टर के व्यवहार में प्रत्यक्षतः नस्ली चेतना का नितान्त अभाव दिखाई देता था। मैंने ब्राज़ील नहीं देखा, परन्तु सन् १९४६ के पेरिस शांति-सम्मेलन में जो ब्राज़ीली प्रतिनिधि-मण्डल आया था, उसे कुछ देखा था। वह और मेरे वाला ब्रिटिश प्रतिनिधि-मण्डल दोनों एक ही होटल में ठहरे हुए थे। मैंने फिलिस्तीन की गाज़ा पट्टी में नियुक्त अन्तर्राष्ट्रीय सेना के अन्तर्गत ब्राज़ीली सेना की एक टुकड़ी को भी देखा। ब्राज़ीलियों —सैनिक और अधिकारी दोनों—के बारे में मैंने जो बात अनुभव की, वह यह थी कि इस पुर्तगाली भाषा-भाषी जाति में भी जातीय वेश-भूषा

की वही भिन्नता और नस्ली चेतना एवं नस्ली पक्षपात का वैसा ही अभाव था जैसा कि मैंने मैक्सिको में देखा था । मैंने गोआ नहीं देखा, यद्यपि भारत में गोआ के रेज़ीडेण्ट से मिला हूँ । मैं गोआ में बसे विभिन्न नस्ल के लोगों के सम्बन्धों के विषय में भी कुछ जानना चाहूँगा ।

स्पेनी और पुर्तगाली भाषा-भाषी जनता के नस्ली पक्षपात से रहित होने का मूल कारण क्या है ? कदाचित इसका मूल कारण वह विरासत है जो आज के स्पेन और पुर्तगाल को शताब्दियों तक मुस्लिम शासन के अन्तर्गत रहने से मिली है । निश्चय ही अल्पसंख्यक मुस्लिम शासकों ने अपनी लैटिन प्रजा के साथ व्यवहार में कोई नस्ली पक्षपात नहीं दिखाया । नस्ली मामलों में यह उदारता निस्संदेह सर्वत्र मुस्लिम शासकों की विशेषता रही है । यदि मैं सही हूँ तो यह इस्लाम का ही प्रभाव है, जिसने सिक्खों को वर्ण-भेद को भुला देने की प्रेरणा दी । हो सकता है कि स्पेनी और पुर्तगालियों ने भी उसी माध्यम से यह पाठ पढ़ा हो । क्या एक ओर हिन्दू धर्म के सामाजिक प्रभाव और दूसरी ओर इस्लाम एवं रोमन कैथोलिक ईसाई धर्म के बीच के निम्नलिखित भेद का स्पष्टीकरण करना संगत होगा ? इस्लाम और कैथोलिक मत नस्ली भावना की दीवार को उस हालत में ढहा देते हैं, जबकि नस्ली रूप से भिन्न लोग सहधर्मी हो जाते हैं। दूसरी ओर हिन्दू धर्म अपने अनुयायियों को अन्य धर्मानुयायियों से इतनी बुरी तरह अलग नहीं करता जितना कि इस्लाम और ईसाई धर्म करते हैं। पर हिन्दू धर्म विभिन्न जातियों के भारतीयों को ऐसे एक नहीं कर देता जैसे कि इस्लाम, ईसाई और सिक्ख धर्म करते हैं।

आज संसार में दो देश ऐसे हैं, जिनमें नस्ली अलगाव एक समस्या है। उनमें से एक अफ्रीका यानी उसके वे भूखण्ड हैं, जहाँ अल्पसंख्यक यूरोपीय लोग शक्तिशाली हैं । दक्षिण अफ्रीका, मध्य अफ्रीका और केनिया ऐसे प्रदेश हैं जिनमें ये अल्पसंख्यक ट्यूटानिक भाषा-भाषी हैं । अल्जीरिया में वे लैटिन भाषा-भाषी हैं । मुझे खेद है कि अल्जीरिया में फ्रांसीसी और कुछ स्पेनी अल्पसंख्यक डचों और अंग्रेज़ों के पथ का अनुसरण कर रहे हैं। दूसरा स्थान, जहाँ यह समस्या अब भी गम्भीर है, भारत है।

ब्रिटिश शासन-काल में भारत के आर्य विजेताओं के वंशजों को न्यूनाधिक वैसे ही व्यवहार का अनुभव हुआ था, जैसा उनके पूर्वजों ने अपने विजित भारतीयों के साथ किया था । कदाचित इसी अनुभव के कारण भारतीय जनता एवं सरकार ने स्वराज्य के बाद इस भयंकर समस्या को पूरी तरह हल करने का निश्चय किया

है । ऐसी बात नहीं है कि भारत को इस मामले में किसी बाहरी देश से शिक्षा की आवश्यकता हो । आखिर २,५०० वर्ष पहले बुद्ध ने जाति-भेद की अवहेलना की ही थी । और मेरी मान्यता है कि बुद्ध आज तक के भारतीयों में सर्वश्रेष्ठ हैं । हमारे अपने युग में गांधी सर्वश्रेष्ठ भारतीय रहे हैं। जब महात्मा गांधी और बुद्ध एक स्वर में बोलते हैं तो हम निश्चय ही स्वयं भारत की आवाज़ सुनते हैं।

जो प्रथा सहस्रों वर्ष के व्यवहार और अभ्यास से संरक्षित है और दैनिक जीवन का अंग हो गई है, उसे मिटाना एक कठिन कार्य है । अवश्य ही समस्या के हल के लिए कानून का सहारा लेना पड़ेगा । जो कानून प्रस्तुत किए गए हैं, उनकी भी मुझे कुछ जानकारी है । मेरी दृष्टि में वे साहसपूर्ण और क्रांतिकारी हैं । लेकिन नस्ली समस्या जनसंख्या की समस्या से मिलती-जुलती है और केवल सरकारी प्रयत्न से उसे हल नहीं किया जा सकता । उसे हल करने के लिए लाखों मस्तिष्कों को आश्वस्त और लाखों हृदयों को परिवर्तित करना पड़ेगा । यह आत्म-शिक्षण का गम्भीर कार्य है और इसमें समय लगेगा।

इस प्रसंग में मुझे प्रसन्नता और आशा के साथ अपनी सन् १९५६ की यात्रा का स्मरण हो आता है, जिसमें मैंने शिवाजी के प्रदेश महाराष्ट्र में स्थित नेशनल वार एकादेमी को देखा था । वहाँ मैंने देखा कि जान-बूझ कर जाति-भेद की अवहेलना की जाती थी और मुझे लगा कि उससे कोई मनमुटाव भी पैदा नहीं हुआ था । विशेष रूप से मैं इससे और अधिक प्रभावित हुआ कि कमान्डेन्ट उत्तर प्रदेश का निवासी एक प्रमुख भारतीय सैनिक था जो धर्म से मुसलमान था। भारत अपनी जाति-समस्या को हल करने के लिए जो प्रयत्न कर रहा है, उसके लिए यह बड़ा अच्छा शकुन था । मुझे विश्वास है कि आप लोग इसे यहाँ हल करने जा रहे हैं, और यदि आपने इसे हल कर लिया, तो इसका शुभ प्रभाव न केवल भारत वरन् अफ्रीका और उत्तरी अमेरिका में भी दिखाई देगा।

भारत और विश्व की चौथी समस्या भाषाई राष्ट्रवाद की है। कल मैंने इस प्रश्न का उल्लेख किया था और अब इस पर कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है । ध्यान रखने की बात यह है कि इस समस्या का उभरना प्रजातंत्र को लागू करने के मूल्य का एक अंश है और कदाचित यह भी स्मरण रखने योग्य है कि भाषा के विषय में—जो राष्ट्रीय एकता के लिए एक भयानक संकट है—चीन भारत से अधिक सौभाग्यशाली है । सबसे पहली बात तो यह है कि समस्त चीन में एक ही भाषा बोली जाती है । स्थानीय भाषाई भेद एक ही भाषा की

बोलियों के स्तर से अधिक नहीं हैं, यह सत्य है फिर भी प्रभेद इतना अधिक है कि उन्होंने चीनी भाषा-भाषियों के लिए विभिन्न बोलियों का एक-दूसरे के लिए समझा जाना असम्भव कर दिया है। लेकिन दक्षिणी-पूर्वी और दक्षिणी तट को छोड़कर एक ही कथित 'मण्डेरिन' बोली सर्वत्र बोली जाती है। राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत किए जाने में 'मण्डेरिन' की कोई प्रति-द्वन्द्विनी भाषा नहीं थी और आनुपातिक दृष्टि से सम्पूर्ण जनसंख्या के एक बहुत छोटे भाग को 'मण्डेरिन' कृत्रिम रूप से सीखनी पड़ती है। चीनियों की बहुत बड़ी संख्या उसे मातृभाषा की भाँति बोलती है। दूसरी ओर भारत में जो लोग हिन्दी को मातृभाषा के रूप में बोलते हैं उनकी संख्या आनुपातिक दृष्टि से सम्पूर्ण जनसंख्या का उतना बड़ा भाग नहीं है। यह ठीक है कि हिन्दी भी उसी परिवार की भाषा है जिसकी कि यह अंग्रेजी, जिसमें मैं आपके सामने बोल रहा हूं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वह द्रविड़ भाषाओं से उतनी ही दूर है, जितनी कि अंग्रेजी है। इस भाषा-वैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय लोगों के लिए स्थानीय भाषाई राष्ट्रवाद छोड़ना कठिन है।

अब मैं अपनी तीन बातों में से अन्तिम के विषय में कुछ कहना उचित समझता हूँ। आपको स्मरण होगा कि मैंने इस ओर संकेत किया था कि मेरी दृष्टि में जीवन और मानवीय समस्याओं के समाधान की भारत की अपनी विशिष्ट पद्धति है। मैंने यह भी कहा था कि आज मानव-जाति जिस स्थिति में है, उसमें यह भारतीय पद्धति समस्त विश्व के लिए बड़े काम की है।

भारत का एक गुण, जिसने मुझे प्रभावित किया है और जिसने मेरे मर्म को छुआ है, वह भारतीयों का द्वेषरहित होना है। आप लोग जब अन्य लोगों से संघर्ष के लिए बाध्य कर दिए जाते हैं— और यह ऐसी स्थिति है जिसमें संघर्ष से बचा नहीं जा सकता—तब जैसा मुझे लगता है, आप अपने को शत्रु के प्रति घृणा का शिकार नहीं होने देते और दूसरी ओर संघर्ष भी करते रहते हैं। इसका ताजा उदाहरण वह भावना है जिससे आपने सफलतापूर्वक मेरे देश के साथ अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष किया। एक बार जब संघर्ष समाप्त हो जाता है, तब आप न तो अतीत का स्मरण करते हैं, न कटुता ही पालते हैं। मैं अपने अनुभव से भारत की इस प्रतिशोधरहित भावना के अनेक उदाहरण दे सकता हूं, लेकिन मैं चाहता हूं कि आपका ध्यान भारत की आज की स्थिति की ओर आकर्षित करूं। आपके निमन्त्रण पर, मैं एक अंग्रेज, एक मुसलमान की स्मृति

में स्थापित व्याख्यान-माला के अन्तर्गत बोल रहा हूँ । भारत पर अन्तिम आक्रमण करने वाले कौन थे ? सबसे अन्तिम अंग्रेज थे और अन्तिम से पहले आक्रान्ता मुसलमान थे।

अपनी विगत दिल्ली-यात्रा के समय जब मैं गांधी जी की समाधि पर श्रद्धांजलि समर्पित करने के लिए खड़ा था तब अपने मन में सोच रहा था—'क्या कभी कहीं और भी ऐसा हुआ है कि एक नेता ने सफलतापूर्वक स्वतन्त्रता का संघर्ष चलाया हो और वह न केवल अपने देशवासियों वरन् उस जाति का भी शुभचिन्तक रहा हो जिसके शासन से मुक्त होने के लिए वह अपने देशवासियों की सहायता कर रहा हो।' गांधी जी ने मेरे देशवासियों के लिए भारत पर शासन करते जाना असम्भव कर दिया और उन्होंने यह कार्य ऐसे ढंग से किया कि अंग्रेजों का भारत से बिना अमिट अपमान और अपयश के चले जाना सम्भव हो सका । मैं कहना चाहता हूँ कि गांधी जी ने अपने देश की जो सेवा की है, उससे कम सेवा मेरे देश की नहीं की। मैं इसमें अतिशयोक्ति नहीं मानता । किसी साम्राज्य पर अधिकार करना तो सरल है, पर एक बार अधिकार प्राप्त करके छोड़ देना बड़ा कठिन है । जब किसी सरकार को प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है, तब वह प्रतिरोध चाहे कितना ही नैतिक और वैध क्यों न हो, उसे अपने अधिकार की रक्षा के लिए बल-प्रयोग का आश्रय लेना ही पड़ता है और एक बार जब संघर्ष हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है, तब दोनों पक्षों के लिए कोई शुभ मार्ग नहीं रह जाता। शासक दल के लिए तो कोई श्रेयस्कर मार्ग रह ही नहीं जाता। गांधी जी ने ब्रिटेन और भारत दोनों को इससे बचा लिया । उन्होंने भारत के लोगों को अपना संघर्ष आध्यात्मिक धरातल पर चलाने की प्रेरणा दी जो कोरे राजनैतिक स्तर से ऊँचा था।

महान् आत्मा अद्वितीय होती है । वह मानव-जाति के आध्यात्मिक लक्ष्य की सफलता के लिए ऐसी देन है, जिसे कोई और नहीं दे सकता । वह अपना कार्य दूसरों को प्रेरणा देकर करती है । यदि उसको अपनी भावना के अनुकूल चलने वाले योग्य और इच्छुक व्यक्ति प्राप्त नहीं होते तो उसकी श्रेष्ठता अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति का अवसर नहीं पाती । मान लीजिए कि गांधी जी भारत में पैदा न होकर प्राचीन यूनान में पैदा हुए होते। प्राचीन यूनानी अपनी भावनाओं की तीव्रता के धनी थे और निर्भीकतापूर्वक उनके अनुरूप कार्य करते थे । उन्होंने आत्म-नियन्त्रणहीन हिंसा द्वारा अपनी स्वनिर्मित महान सभ्यता का विनाश कर दिया । इसीलिये मेरा विचार है कि यदि गांधी जी को अपना कार्य प्राचीन

यूनान में करना पड़ता, तो उन्हें पर्याप्त निराशा होती । मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि अहिंसात्मक असहयोग गांधी जी और भारतीय जनता की सम्मिलित विजय रहा है । वे दोनों एक मत थे । भारतीय जनता की भावना ने गांधी जी का जो साथ दिया वह प्राचीन भारतीय परम्परा की अभिव्यक्ति थी । ईसा के छः शताब्दी पूर्व भी यह भावना प्रकट हुई थी । तब इसने बुद्ध और महावीर एवं उनके समकालीन हिन्दू सन्तों और साधुओं को अनुप्राणित किया था।

मेरी सम्मति में अहिंसात्मक क्रांति एक विशिष्ट भारतीय उपलब्धि है । भारत और ब्रिटेन की राजनैतिक गुत्थी के सुलझाने के साथ ही उसे भारत के प्रजातांत्रिक जीवन में कार्य करने का एक नया क्षेत्र मिल गया है । वस्तुतः मेरा तात्पर्य भूदान आन्दोलन से है । ऐसी स्थिति में जब कोई अतीत पर दृष्टिपात करता है, तो जैसा कि मैंने पहले व्याख्यान में कहा था, उसे अशोक भी उसी भावना से कार्य करता हुआ मिलता है । विश्व को एक करने के लिए वह सैनिक आक्रमण के स्थान पर धार्मिक प्रचार का सहारा लेता हुआ दिखाई देता है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, अशोक को परमाणु-युग में रहने का अवसर नही मिला था । गांधी जी को भी नहीं मिला । जब सन् १९४५ ईसवी में हीरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम गिराए गए थे, तब से कितने ही वर्ष पहले उनके जीवन का कार्य पूरा हो चुका था । उनकी अहिंसात्मक नीति दृढ़ता-पूर्वक कार्यरूप में परिणत की जा चुकी थी । लेकिन परमाणु-युग के झंझावात में जीने वाले हम लोगों ने यदि इस विनाशक भौतिक शक्ति के तूफान में अपने साथियों के साथ व्यवहार करते समय अहिंसा का प्रयोग नहीं किया तो मानव-जाति अपने को आत्म-विनाश से न बचा सकेगी । घोर उत्तेजनापूर्ण वातावरण में भी हमें इसका प्रयोग करना है, भले ही वह उत्तेजना कितनी ही अमर्यादित और पूर्व-निर्धारित क्यों न दिखाई दे। हम सब जानते हैं कि ऐसा करना कितना कठिन है । आज आप लोग चीन के साथ अपने सम्बन्धों में इसका प्रयोग करने में कठिनाई का अनुभव कर रहे हैं। परन्तु आप लोगों ने गांधी जी एवं इतिहास के प्रति एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व संभाला है । मेरा अभिप्राय शेष विश्व के समक्ष अहिंसा का भारतीय आदर्श प्रस्तुत करने से है । यदि भारत इस सर्वश्रेष्ठ और इसीलिये अत्यन्त कष्टकर आदर्श के अनुसार चलने में असफल हो जाता है, तो यह सारी मानव-जाति के लिए खेद की बात होगी । इसलिए भारत पर एक गम्भीर आध्यात्मिक उत्तरदायित्व है । आपका कार्य चाहे जिस

प्रकार का हो, वह मनुष्य की भावना को भले या बुरे के लिए एक निश्चयात्मक मोड़ देने में बड़ा भारी काम करेगा।

अहिंसा की भावना नैतिक आदर्श से अनुप्राणित मनोदशा का नाम है। लेकिन प्रत्येक नैतिक आदर्श अपने साथ कोई न कोई बौद्धिक दृष्टिकोण भी रखता है। जहाँ तक मेरा विचार है भारत का वह दृष्टिकोण, जो अहिंसा की भारतीय भावना का बौद्धिक प्रतिरूप है, उस विश्वास का नाम है जो यह बताता है कि मानव के लिए सत्य और मुक्ति की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। 'सत्य' से मेरा अभिप्राय पूर्ण आध्यात्मिक सत्ता के दर्शन से है। 'मुक्ति' से मेरा तात्पर्य उस सत्ता का आभास पाकर किसी सीमा तक उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने से है।

मेरा विश्वास है कि उस सत्ता या वास्तविकता के प्रति यह उदार दृष्टि भारत की विशिष्टता है। यदि मैं सही हूँ तो एक कट्टर और उत्साही शैव तथा एक कट्टर और उत्साही वैष्णव दोनों स्वीकार करेंगे कि उनमें से हर एक अपने-अपने ढंग से सत्य और मुक्ति की खोज में है। चाहे उनमें से प्रत्येक यह दावा करे कि उसके लिए उसका निजी मार्ग ही श्रेयस्कर है पर उनमें से यह दावा कोई न करेगा कि उसी का मार्ग ऐसा है, जिसमें कुछ सत्य या अच्छाई है। वह कभी यह भी न कहेगा कि उसके पड़ोसी का मार्ग नितान्त असत्य और बुरा है। वह हिन्दू धर्म नहीं है या धर्म ही नहीं है, ऐसा कहकर वह उसका तिरस्कार भी न करेगा, न वह यह मानेगा कि उसका अपना धर्म किसी विशेष देश-काल में सदा के लिए अवतरित हुआ है। एक ऐसे शैव ब्राह्मण की कल्पना कीजिए, जो शुद्ध आर्य होने पर गर्व करता है। उससे कोई मुंहफट पुरातत्ववेत्ता कहता है कि शिव नामक देवता की पूजा आर्यों के भारत-आगमन और प्रथम ब्राह्मण द्वारा ब्रह्म-विधि सम्पन्न करने के शताब्दियों पूर्व मोहनजोदड़ो और हड़प्पा संस्कृति के युग में होती थी। मेरा विश्वास है कि यह काल्पनिक शव ब्राह्मण इस पर न तो ऐसा बुरा मानेगा और न घबरायेगा जैसा कि अत्यन्त उदार विचारों का ईसाई पादरी किसी दूसरे पुरातत्ववेत्ता के वैसे ही मुंहफट ढंग से यह कहे जाने पर बुरा मानेगा कि ईसा को सूली दिए जाने के शताब्दियों पूर्व जिस देवता ने मानव की मुक्ति के लिए अपना बलिदान दिया था, वह दक्षिणी-पश्चिमी एशिया और मिश्र में—सम्भवतः स्कैण्डेनेविया में भी—तम्मुज, एडोनीस, ओसी-रिस, ऐटिस, बाल्डर आदि विभिन्न नामों से पूजा जाता था।

फिर यदि मैं ठीक हूँ, तो धर्म-सम्बन्धी यह उदारतापूर्ण भारतीय मानसिक दृष्टि हिन्दू धर्म के साथ बौद्ध धर्म में भी है। यदि यह सत्य है तो बड़ी

भारी बात है—विशेष रूप से इस बात को ध्यान में रखते हुए कि बुद्धानुयायी बुद्ध को ही मानव-जाति की आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग खोजने का श्रेय देते हैं। यह दावा कि बौद्ध धर्म ही एकमात्र सही मार्ग है, कुछ-कुछ ईसाई और इस्लाम धर्म जैसा है। इतना होते हुए भी बौद्ध आचार विशिष्ट भारतीय मार्ग के रूप में उदार रहा है। यदि कोई चाहे तो आज पूर्वी-एशिया में इसका प्रमाण पा सकता है। जापान के अधिकांश व्यक्ति बौद्ध होने के साथ ही शिन्तो के अनुयायी हैं। वे विवाह के लिए शिन्तो और मृत्यु संस्कार के लिए बौद्ध धर्म का आश्रय लेते हैं। यहाँ दोनों धर्मों का सह-अस्तित्व है और वे प्रेम से एक साथ रहते हैं। प्राक्-साम्यवादी चीन में अधिकांश व्यक्ति एक साथ बुद्ध, ताओ और कन्फ्यूशियस के अनुयायी थे। वास्तव में उत्तर-पूर्वी एशिया का बौद्ध धर्म महायान है। थेरवादी बौद्ध धर्म सीलोन सहित दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों का वैसे ही राष्ट्रीय धर्म है, जैसे कि ईसाई धर्म ब्रिटेन का और इस्लाम धर्म मिश्र का राष्ट्रीय धर्म है। फिर भी मैं कहूंगा कि जैसे इटली में रोमन कैथोलिक ईसाई धर्म ने अपने पूर्व के धर्मों को स्वीकार कर लिया है, वैसे ही थेरवादी बौद्ध धर्म ने भी अपने से पूर्व के धर्मों को स्वीकार कर लिया है।

ईसाई धर्म के कर्णधार जितना मानते हैं, उससे कहीं अधिक वह अपने से पूर्व के धर्मों से ग्रहण करने वाला रहा है। हिन्दू विचार-पद्धति के इस शुभ स्पर्श के होते हुए भी ईसाई धर्म कुल मिलाकर अपने पृथकत्व की भावना और असहिष्णुता के कारण भारतीय उद्गम के धर्मों और दर्शनों का विरोधी लगता है। अधिकांश ईसाइयों की मान्यता है कि उनका अपना धर्म ही सत्य और मुक्ति का ठेकेदार है। कुछ ईसाई अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु हैं, तो कुछ ने बहुत पहले अन्य धर्मों को विश्व के मानचित्र से मिटाने की चेष्टा के रूप में अपनी इस ईसाई मान्यता और ईसाई भावना को क्रियात्मक रूप भी दिया है। इस प्रकार के सैनिक आक्रामक स्वभाव का परिचय देने वाला धर्म अकेला ईसाई धर्म ही नहीं है। यह उन सभी जीवित धर्मों और विचारधाराओं की विशेषता है, जिनका उदय भारत के पश्चिम में स्थित 'ओइकुमेने' के प्रदेश में हुआ है। ईसाई, इस्लाम, यहूदी और पारसी धर्म तथा ईसाई धर्मेतर वातावरण में उत्पन्न सभी आधुनिक पश्चिमी विचारधाराओं में असहिष्णुता एक साधारण बात है। मेरा अभिप्राय फासिज्म, नाज़ीवाद और साम्यवाद से है। मेरा विश्वास है कि जब से पारसी धर्मानुयायी भारत में आए हैं तब से वे अपनी जन्मजात लड़ाकू-वृत्ति से ऊपर उठ चुके हैं। वास्तव में कुछ ईसाई भी लड़ाकू-वृत्ति से मुक्त हो चुके हैं।

मैं विशेष रूप से उन क्वेकरों का विचार कर रहा हूँ, जिनके साथ, मैं समझता हूं, गांधी जी कुछ आध्यात्मिक अपनत्व का अनुभव करते थे। लेकिन कुल मिलाकर भारतीय धर्म और दर्शन की उदारता के विपरीत यह आक्रामक लड़ाकू-वृत्ति सिन्धु पार के सभी धर्मों की विशेषता है।

'इतने बड़े रहस्य के अन्तरतम में केवल एक ही पथ से नहीं पहुँचा जा सकता।' क्या आप बता सकते हैं कि ये शब्द भारत के किस धार्मिक महापुरुष ने लिखे हैं ? क्या वह शंकराचार्य थे ? क्या वह रामानुजाचार्य थे ? क्या वह नानक थे ? जो वाक्चातुर्य मैं आपको दिखाने का बहाना कर रहा हूँ, उसकी जड़ में आप पहुँच गए होंगे। यदि मेरे द्वारा उद्धृत वाक्य का लेखक कोई भारतीय होता तो यह वाक्य भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में भली-भाँति घुला-मिला होता। परन्तु वास्तव में वह कोई भारतीय सन्त या ऋषि नहीं थे। वह तो चौथी शताब्दी का रोमन सिनेटर क्विंटस औरेलियस सिमाकस था। सिमाकस के समय में ईसाई धर्म रोमन-साम्राज्य का सरकारी धर्म बन चुका था। जिस वाक्य को मैंने उद्धृत किया है वह उसने मिलान के पादरी एम्ब्रोसे के साथ पत्र-व्यवहार करते हुए लिखा था। ईसा की चौथी शताब्दी के नवें दशक में ईसाई रोमन-साम्राज्य की सरकार अपने यहाँ से ईसाइयत के अलावा सभी धर्मों का योजनाबद्ध रूप में सफाया कर रही थी। सिमाकस गैर-ईसाई दल का प्रवक्ता था। जब सरकार ने चार सौ वर्ष पूर्व जूलियस सीज़र द्वारा स्थापित विजय देवी की मूर्त्ति को रोम के सीनेट-भवन से हटाने का निश्चय किया था तब धार्मिक संघर्ष बड़ा तीव्र हो गया था। एम्ब्रोसे का आग्रह था कि मूर्त्ति हटाई जाय, सिमाकस कहता था कि उसका सम्मान और सुरक्षा हो। एम्ब्रोसे की जीत हुई। सरकार में उसकी पहुँच थी और सरकार की सारी शक्ति उसके पीछे थी। सिमाकस के ये स्मरणीय शब्द भूमध्यसागरीय भूभाग के ईसाई धर्म से पहले के धर्मों को दबाये जाने से तो न बचा सके, पर उसके द्वारा कहे गए वे शब्द शताब्दियों से प्रतिध्वनित होते रहे हैं और न तो एम्ब्रोसे ने और न उसके किसी उत्तराधिकारी ने ही सिमाकस को समुचित उत्तर दिया। रोम सरकार द्वारा शक्ति का प्रयोग करना कोई उत्तर नहीं था। रोम के सम्राट ग्रेशियन और थियोडोसियस ने जैसा किया वैसा अशोक द्वारा किए जाने की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।

आप मेरी बात समझ गये होंगे। सिमाकस के शब्द भूमध्यसागरीय प्रदेश के ईसाई धर्म के पहले के धर्मों की भावना को प्रकट करते हैं। यही उदारता और विशाल हृदयता हिन्दू धर्म में व्याप्त है। मुझे यूनान और रोम के ईसा-पूर्व

युग के साहित्य और संस्कृति की शिक्षा मिली है । यद्यपि ईसाई धर्म मेरा पैतृक धर्म है तथापि जितना अपनापन मुझे ईसाइयों द्वारा 'पेगनवाद' कहकर पुकारे गए यूनानी-रोमन जीवन-क्रम में अनुभव होता है, उतना ईसाई धर्म में नहीं होता और अब तक जैसा अपनापन मैं यूनानी-रोमन विश्व के ईसा-पूर्व युग के धर्म और दर्शन में अनुभव करता हूँ वैसा ही हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में भी अनुभव करता हूँ । ईसा-पूर्व युग के यूनानी-रोमन धर्म से जो मेरी घनिष्टता और सहानुभूति है वह मुझे भारत और पूर्वी एशिया के वर्तमान धर्मों को समझने का सूत्र देती है। अब भारत के पश्चिम में विद्यमान धर्मों की बात लीजिए। वहाँ के जो प्रारम्भिक धर्म कभी पारस्परिक सहिष्णुता पर टिके थे, उनको इस्लाम और ईसाई धर्मों ने बहुत पहले ही कुचल डाला । चीन में भी आज जो तीन धर्म—जिनमें से एक भारतीय उद्गम का है—सह-अस्तित्व में हैं, वे कदाचित ईसाई-भूमि पर उत्पन्न पश्चिमी विचारधारा, साम्यवाद से कुचले जाने के संकट में हैं । जो उदार और विशाल धार्मिक दृष्टि कभी लगभग समग्र विश्व में व्याप्त थी, वह आज अकेले भारत में दिखाई देती है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस आध्यात्मिक धरोहर को मानव-जाति की सम्मिलित निधि के रूप में सुरक्षित रखने का भार भारत पर डाल दिया गया है । यह ऐसी निधि है, जिसका परमाणु युग में अपरिमेय मूल्य है।

भारत केवल अपनी निजी धार्मिक परम्परा का ही उत्तराधिकारी नहीं है। वह प्राचीन भूमध्यसागरीय भूभाग की धार्मिक परम्पराओं के अवशेष का भी उत्तराधिकारी है । सिमाकस और अशोक के समर्थन का भार आपके ऊपर है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात भारत-संघ का संविधान बनाने में भारत ने इसका वफादारी से उपयोग किया है । ईसा की चौथी शताब्दी में रोम-सम्राट् थियोडोसियस और सत्रहवीं शताब्दी में औरंगज़ेब ने जो भूल की थी, वह आपने नहीं की। आपने हिन्दू धर्म को भारत-संघ का सरकारी धर्म नहीं बनाया । आपने एक धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की है, जिसमें सभी धर्मों के अनुयायी समानाधिकार रखते हैं। हिन्दू धर्म किसी को विशेषाधिकार दिए जाने के आग्रह से दूर रहा है और मैं कहता हूँ कि इस आत्म-त्याग के कार्य में उसने अपनी भावना के प्रति अद्भुत सचाई बरती है।

बोलते-बोलते मेरे मानस-नेत्रों के सम्मुख कुछ सजीव स्मृतियाँ नृत्य करती रही हैं । उनमें से एक मानसिक चित्र १९२० के उत्तरार्द्ध में पोलैंड के शहर वारसा के मुख्य मैदान का है । वारसा पर पहली बार रूसी राज्य (१८१४-१९१५)

के दौरान रूसियों ने नगर के इस केन्द्रीय स्थान में पूर्वी कट्टर ईसाई धर्म से सम्बन्धित एक गिरजाघर बनवाया था। यह नगर कभी स्वतन्त्र रोमन कैथोलिक देश पोलैण्ड की राजधानी रह चुका था। रूसियों ने ऐसा इसलिए किया कि जिससे वे पोलों को बराबर यह दिखाते रहें कि अब उनके स्वामी रूसी हो गए हैं। सन् १९१८ में जब पोलैण्ड पुनः स्वतन्त्र हुआ तो पोलों ने इसे धराशायी कर दिया। इसे गिराने का कार्य मेरी यात्रा के ठीक पहले दिन समाप्त हुआ था। मैं उस रूसी गिरजाघर को नष्ट करने के लिए पोलैण्ड की स्वतन्त्र सरकार को अधिक दोषी नहीं ठहराता। जिस उद्देश्य से रूसियों ने वह गिरजाघर बनवाया था वह धार्मिक न होकर राजनैतिक था। उन्होंने उसे जानबूझ कर पोलों को चोट पहुँचाने की दृष्टि से बनवाया था। दूसरी ओर मैं औरंगज़ेब की मसजिदों को न गिराने के लिए भारत सरकार की प्रशंसा करता हूँ। विशेष रूप से मैं उन दो की बात कर रहा हूँ, जिनमें से एक वाराणसी के घाट पर और दूसरी मथुरा में कृष्ण टीले पर खड़ी है।

औरंगज़ेब ने भी इन तीनों मसजिदों को जानबूझ कर हिन्दुओं की भावनाओं को चोट पहुँचाने के उसी राजनैतिक उद्देश्य से बनवाया था जिससे प्रेरित होकर रूसियों ने वारसा नगर के मध्य भाग में कट्टर ईसाई धर्म का गिरजाघर बनाया था। उन तीनों मसजिदों के बनाने का उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि सर्वत्र—यहाँ तक कि हिन्दू धर्म के श्रेष्ठ तीर्थ-स्थानों में भी—इस्लामी सरकार का शासन है। मैं कहता हूँ कि औरंगज़ेब में उत्तेजना दिलाने वाले स्थानों को चुनने की अद्भुत प्रतिभा थी। औरंगज़ेब और स्पेन का फिलिप द्वितीय दोनों एक-से थे। वे ईसाई-इस्लाम-यहूदी धर्मों की शाखा में घोर कट्टरता के अवतार थे। औरंगज़ेब ने, जो एक दयनीय, हतभाग्य, गुमराह व्यक्ति था, अपनी कुख्याति के स्मारक के रूप में बहुत बड़ी इमारतें बनाने में ही पूरा जीवन लगा दिया। औरंगज़ेब की मसजिदों को बचाये रखने वाले आप लोगों से वे पोल वास्तविक रूप से कहीं अधिक दयालु थे, जिन्होंने रूसियों को अपयश का भागी बनाने वाले वारसा के स्मारक को विनष्ट कर दिया था। कुछ भी हो, आज हिन्दुओं के तीर्थ-स्थानों को नहीं, वरन् स्वयं औरंगज़ेब को ही इन स्थानों पर निर्मित मसजिदों के ज्वलन्त अस्तित्व से अपयश मिल रहा है।

यदि मौलाना आज़ाद औरंगज़ेब के समकालीन होते तो भी मुझे सन्देह ही है कि वे सम्राट् के पास जाकर उससे वह नीति छुड़वाने में सफल होते, जिसने स्वयं उसको अपयश का भागी बनाने के अतिरिक्त उसके साम्राज्य को भी विनष्ट कर

दिया। औरंगज़ेब मौलवियों की बात मानता था। इस्लामी आध्यात्मिक दर्शन के पंडितों में जहाँ उदार विचार के लोग रहे हैं वहाँ संकीर्ण विचार के भी। दुर्भाग्य से औरंगज़ेब ने जिन मौलवियों की बात मानी वे गलत ढंग के थे, सही ढंग के नहीं।

औरंगज़ेब की मसजिदें भारतीय मुस्लिम वास्तुकला का कोई महान् निदर्शन नहीं हैं, पर शेष समस्त मुगल कला का स्तर ऊँचा है। आगरा के ताजमहल और आगरा फोर्ट तथा इस शाहजहाँनाबाद (दिल्ली) की विश्वविख्यात इमारतों की देख-भाल भारतीय पुरातत्व विभाग जिस प्रेम से करता है, उसे मैंने देखा है। इसके लिए न केवल इस्लामी जगत वरन् समस्त विश्व को भारत का कृतज्ञ होना चाहिए। जब सार्वजनिक स्मारक अत्यन्त सौन्दर्यशाली हों तब उनको सावधानी से सुरक्षित रखना इतना प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता जितना तब जबकि उनमें वैसे सौन्दर्य का आन्तरिक आकर्षण न हो। भारत के ब्रिटिश शासकों ने भी अपनी क्षणिक उपस्थिति को चिरस्थायी बनाने के लिए अपने पीछे स्मारक छोड़कर पूर्ववर्ती मुस्लिम शासकों का ही अनुकरण किया है। ब्रिटिश जाति के दुर्भाग्य से भारत में उस युग की शैली मुगल शैली नहीं थी, बल्कि विक्टोरिया युग की गॉथिक शैली थी। यदि भारतीय निर्माण-मन्त्रालय की नीति के निर्धारण में मेरे देशवासियों में से किसी की राय ली जाती तो मैं समझता हूँ कि उसने भारत में ब्रिटिश राज्य की स्मृति दिलाने वाले इन भोंडे स्मारकों में से कुछ को गिराने के लिए अवश्य ज़ोर डाला होता। लेकिन भारतीय अधिकारी ऐसे नहीं हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, वे इन भोंडे ब्रिटिश स्मारकों के प्रति भी वैसे ही कोमल हैं, जैसे कि ताज के प्रति। भारतीय सहिष्णुता के इस विशिष्ट उदाहरण ने मुझे तीव्र वेदनायुक्त प्रशंसा करने को अनुप्राणित किया है। वास्तव में ब्रिटिश यह मानते हैं कि भारत में उनकी अतीतकालीन उपस्थिति की स्मृति बनी रहनी चाहिए। परन्तु मेरी दृष्टि में भारतीय क्रिकेट के मैदान बम्बई के रेलवे स्टेशन से कम दुखदायी स्मारक हैं।

अच्छा, मैं माने लेता हूँ कि भारत से ब्रिटेन का सम्बन्ध सूचित करने वाले इन अविनष्ट विक्टोरिया-युग के गॉथिक स्मारकों का भारत के लिए महत्व है। इनसे भारत की एकता में अनेकता की ऐश्वर्यशाली परम्परा का एक विचित्र स्पर्श मिला है। जो कुछ भी हो, एक बात मैं अवश्य अनुभव करता हूँ और वह यह है कि अनेकता के प्रति भारत की यह रुचि हमारे युग में शेष विश्व के लिए अत्यन्त महत्व का आदर्श प्रस्तुत करती है। अपने मन में घुमड़ती

हुई एक बात को मैं फिर कहने का साहस कर रहा हूँ । हम एक ऐसे युग में रह रहे हैं, जिसमें विज्ञान ने अचानक दूरी का विनाश कर दिया है । इसने विश्व की स्थानीय संस्कृतियों, धर्मों और नस्लों को सीधा एक-दूसरे के समक्ष ला खड़ा किया है और अब राष्ट्र परमाणु अस्त्रों से सुसज्जित हैं । भौतिक दृष्टि से हम एक-दूसरे के पड़ोसी हैं, पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अब भी एक-दूसरे के लिए अजनबी हैं । हम अपनी भिन्नता के प्रति इतने सजग कभी नहीं थे जितने कि आज सन्निकट आकर हो गए हैं। हम इसका प्रतिकार किस प्रकार करना चाहते हैं ? क्या हम अपनी इस भिन्नता की चेतना को पारस्परिक भय और घृणा का कारण बनने देंगे ? यदि हमने ऐसा किया .तो हम एक-दूसरे को मिटाने की चेष्टा में स्वयं मिट जायेंगे । अथवा हम एक परिवार की भाँति साथ रहना सीखना चाहते हैं ? पारस्परिक विनाश से बचने का यही एकमात्र मार्ग है । लेकिन उच्चकोटि की मित्रता प्राप्त करने के लिए हमें मानवीय धरोहर की भिन्नता को महत्त्व देना पड़ेगा । हमें अपने पड़ोसियों की सर्वश्रेष्ठ देनों की प्रशस्ति ही नहीं गानी है, मानव-जाति की सम्मिलित निधि के रूप में उन्हें प्यार भी करना है । हमें स्वयं अपने पड़ोसियों को भी उस मानव-परिवार के बहुमूल्य सदस्यों की भाँति प्यार करना है, जो परमाणु-युद्ध द्वारा विनष्ट होने के सामान्य संकट का सामना कर रहा है। यही कारण है कि भारत की एकता में अनेकता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि विश्वव्यापी महत्व की है।

मुझे एक अन्तिम बात और कहनी है । वह मेरी दृष्टि में किसी भी अन्य बात से अधिक महत्त्व की है । गांधी जी को दिन भर में अनेक कार्य करने पड़ते थे । आज की स्थिति में किसी बड़े आन्दोलन के संचालक को यही करना पड़ता है । इतना होने पर भी गांधी जी इतने अधिक व्यस्त कभी नहीं रहे कि अपने को सामान्य कार्यों से हटाकर ध्यानावस्थित होने के लिए समय न निकाल सकें। यदि उन्होंने ऐसा करने का अभ्यास न किया होता तो मैं समझता हूँ कि वे अपना कार्य न कर पाते क्योंकि ध्यानावस्था के क्षण ही उनकी असीम आध्यात्मिक शक्ति के स्रोत थे। ध्यानावस्थित होने के लिए समय निकालने में गांधी जी न केवल अपने लिए वरन् भारत के लिए भी सच्चे थे। इस प्रकार का अभ्यास कुछ भारतीय परम्परा की ही विशेषता है।

आज भारतीय जनता को अनेक आवश्यक और व्यावहारिक कार्य करने हैं। उदाहरणार्थ मैं सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए अपेक्षित व्यावहारिक कार्य की बात लेता हूं। भारतीय कृषक वर्ग के भौतिक जीवन को ऊँचा

उठाना केवल भौतिक उद्देश्य नहीं है। वह सर्व प्रथम आध्यात्मिक महत्त्व की बात है। कारण, वह आध्यात्मिक साधना के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने का उपाय है। लेकिन गांधी जी के उदाहरण से यह बात स्पष्ट है कि यदि मनुष्य चाहे तो सांसारिक चिन्ताओं से अपने आध्यात्मिक जीवन को धूमिल और पीड़ित किए बिना ही कड़े-से-कड़ा व्यावहारिक कार्य कर सकता है। इससे भी अधिक गांधी जी ने यह बताया कि आध्यात्मिक साधना व्यावहारिक कार्यों का स्रोत है। यही वह प्रेरणा है जो हमारे व्यावहारिक कार्यों को फलप्रद बनाती है, कार्य की अराजकता नहीं।

मेरा विश्वास है कि भारत को आज विश्व को यही सबसे बड़ा पाठ पढ़ाना है। पश्चिमी मध्य-युगों में पश्चिमी ईसाई मत ने कुछ सीमा तक ध्यानावस्था की विशेषता का अनुभव करके उसका अभ्यास किया था। तब से हमने इस आध्यात्मिक कला को लगभग पूरी तरह खो दिया है। हमारी यह क्षति गम्भीर है क्योंकि जीने की कला का ही दूसरा नाम ध्यानावस्थित होने की कला है। इसलिए अब हम फिर भारत की ओर उन्मुख होते हैं। जो आध्यात्मिक धरोहर मनुष्य को मानव बनाती है वह भारतीय आत्माओं में आज भी विद्यमान है। विश्व को इसके भारतीय उदाहरण देते चले जाइए। मानव-जाति को आत्म-विनाश से बचाने में अन्य कोई वस्तु इससे अधिक सहायक नहीं हो सकती।